भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

2942

कर्मस्तव नामक

कर्मग्रन्थ [द्वितीय भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

सम्पादकीय

जैनदर्शन को समझने की कुंजी है—'कर्मसिद्धान्त'। समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा। और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्‌घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिए जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्र-सूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनके कई गुज-राती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेवश्री मरुधरकेसरीजी म० से प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकन-मुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमारजी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन कर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलालजी के ग्रन्थों का सहयोग प्राप्त हुआ और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजतमुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमलजी सेठिया की सहृदयतापूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आप सबका आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरी जी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और इन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ एवं अनुरागी हैं। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैनदर्शन का एक महान ग्रन्थ है। इनके छह भागों में जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-सम्पादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमारजी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनिजी एवं विद्याविनोदी श्री सुकन-मुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य सुन्दर ढंग से सम्पन्न हुआ है।

हम अतिशीघ्र क्रमशः अन्य भागों में सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचनयुक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे। प्रथम भाग कुछ समय पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुँच चुका है। अब यह दूसरा भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

मन्त्री—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

द्वितीय आवृत्ति

'कर्मवाद' का सांगोपांग निरूपण करने वाला 'कर्मग्रन्थ' जैन कर्म' सिद्धान्त का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन करते समय हमें कल्पना थी कि इस प्रकार के गहन-गूढ़ विषय के पाठक बहुत ही कम होंगे, अतः हमने सीमित प्रतियाँ ही छपवाई। किन्तु पाठकों ने इस ग्रन्थ को अति उत्साह के साथ अपनाया, सर्वत्र इसका स्वागत हुआ। प्रथम भाग की तरह द्वितीय भाग का संस्करण भी समाप्त हो गया, तथा बराबर पाठकों की माँग आने लगी। फलस्वरूप यह द्वितीय भाग का नवीन संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

कागज छपाई आदि की अत्यधिक महँगाई होते हुए भी पाठकों की सुविधा के लिए इसके मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

—मन्त्री

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुख की निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाली भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रही है। स्वयं परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र में पिस रही है। अजर, अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रही है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रही है। इसका कारण क्या है?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध घटना-चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेषवशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बन्धन में बाँध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त

परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरिरचित इसके छह भाग अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शनसम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान मनीषी पं० सुखलालजी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरीजी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर सन्त ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेवश्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं

व कार्यक्रमों का आयोजन ! व्यस्त जीवन में आप १०-१२ घण्टा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेवश्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका-लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' को सौंपा गया। श्री सुराना जी गुरुदेवश्री के साहित्य एवं विचारों के अतिनिकट सम्पर्क में हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्ता-पूर्ण तथा सर्व साधारणजन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन से एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा सम्पादक बन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम भाग के पश्चात् यह द्वितीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

—सुकन मुनि

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना पृ० १७ से ३६

कर्मसिद्धान्त मानने का आधार १७

कर्मसिद्धान्त की मान्यता : दो विचारधारायें १८

निवर्तकधर्म का कर्म विषयक मंतव्य १९

निवर्तकधर्मवादियों में विचारभिन्नतायें २०

जैनदर्शन की कर्मतत्व सम्बन्धी रूपरेखा २२

द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य २३

विषय वर्णन की शैली २३

गुणस्थानों का संक्षेप में विवेचन २४

गुणस्थान क्रम का आधार २५

अन्य ग्रन्थों में गुणस्थान सम्बन्धी चर्चा ३०

ग्रन्थ का विषय विभाग और रचना का आधार ३५

गाथा १ पृष्ठ १—७

मंगलाचरण (स्तुति) १

ग्रन्थ में वर्णित विषय का संकेत २

बन्ध, उदय, उदीरणा व सत्ता का विवेचन २

गुणस्थान का लक्षण ६

गाथा २ ७—४९

गुणस्थानों के नाम ७

गुणस्थानों की व्यवस्था ८

गुणस्थानों का परिभाषा ११

मिथ्यात्व गुणस्थान ११
सास्वादन गुणस्थान १५
औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति विषयक प्रक्रिया १६
मिश्र गुणस्थान २०
अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान २३
देशविरत गुणस्थान २४
प्रमत्तसंयत गुणस्थान २६
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान २७
निवृत्तिबादर गुणस्थान २८
अनिवृत्ति गुणस्थान ३३
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान ३५
उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान ३५
क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान ३६
सयोगिकेवली गुणस्थान ४१
अयोगिकेवली गुणस्थान ४३
गुणस्थानों के शाश्वत-अशाश्वत आदि का संकेत ४८
गाथा ३ ४६—५४
बन्ध का लक्षण ५०
सामान्यतया बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या का निर्देशन व कारण ५१
मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध प्रकृतियां ५३
गाथा ४ ५४—५६
मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध विच्छिन्न प्रकृतियों के नाम ५४
सास्वादन गुणस्थान में बन्धयोग्य,प्रकृतियों की संख्या ५६
गाथा ५ ५६—५८
सास्वादन गुणस्थान में बन्धविच्छिन्न प्रकृतियों के नाम, ५६

मिश्रगुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ५८
मिश्रगुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की न्यूनता का कारण ५८
गाथा ६ ५८—६२
अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ५९
अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या की अधिकता का कारण ६०
देशवित गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६०
देशविरत गुणस्थान में वन्धविच्छिन्न प्रकृतियों के नाम ६१
प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६१
गाथा ७, ८ ६२—६४
प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य विच्चिन्न प्रकृतियों के नाम ६३
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६३
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की भिन्नता का स्पष्टीकरण ६४
गाथा ९, १०, ११ ६५—६९
अपूर्वकरण गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६६
अपूर्वकरण गुणस्थान के सात भागों में बन्ध-विच्चिन्न प्रकृतियों की संख्या व नाम ६६
अनिवृत्तिबादर गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६७
अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के पांच भागों में बन्धविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या व क्रम ६७
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ६८
गाथा १२ ६९—७२
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में बन्ध प्रकृतियों के नाम ६९

उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृति और कारण ७०
अयोगिकेवली गुणस्थान में अबन्ध व उसका कारण ७०
गाथा १३ ७२—७५
उदय व उदीरणा का लक्षण ७३
सामान्यत: उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या व कारण ७४
मिथ्यात्वगुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ७५
गाथा १४, १५, १६, १७ ७६—८७
मिथ्यात्वगुणस्थान में उदयविच्छिन्न प्रकृतियां ७७
सास्वादन गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां व कारण ७८
सास्वादन गुणस्थान में उदयविच्छिन्न प्रकृतियां ७९
मिश्र गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ८०
अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ८१
देशविरत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या व कारण ८२
देशविरत गुणस्थान में उदयविच्छिन्न प्रकृतियां ८२
प्रमत्तविरत व अप्रमत्तविरत गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ८५
गाथा १८, १९ ८७—९०
अपूर्वकरण गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ८८
अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ८९
सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ९०
उपशांतमोह गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ९०
गाथा २० ९१—९३
क्षीणमोह गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ९१
सयोगिकेवली गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियां ९२

गाथा २१, २२ ९३—९६
सयोगिकेवली गुणस्थान में उदयविच्छिन्न प्रकृतियाँ ९४
अयोगिकेवली गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियाँ ९५
गाथा २३, २४ ९६—९९
उदय और उदीरणा प्रकृतियों में असामानता का कारण ९६
गाथा २५ ९९—१०५
सत्ता का लक्षण ९९
सत्ता प्रकृतियों की संख्या और कारण १०२
मिथ्यात्व से उपशान्तकषाय गुणस्थान तक १०३
सामान्य से सत्ता योग्य प्रकृतियाँ व कारण १०३
गाथा २६ १०५—१०७
अविरतसम्यग्दृष्टि से उपशान्तमोह गुणस्थान तक १०६
उपशमश्रेणी आदि की अपेक्षा सत्ता योग्य प्रकृतियाँ १०७
गाथा २७ १०७—१११
क्षपकश्रेणी की अपेक्षा सत्ता योग्य प्रकृतियों का कथन व कारण १०८
गाथा २८, २९ १११—११३
क्षपकश्रेणी की अपेक्षा अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के दूसरे से नौवें भाग तक प्रकृतियों की सत्ता ११२
गाथा ३० ११४—११६
सूक्ष्मसंपराय और क्षीणमोह गुणस्थान में सत्ता प्रकृतियाँ ११४
गाथा ३१, ३२, ३३ ११६—१२०
सयोगिकेवली, अयोगिकेवली गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियाँ ११६

गाथा ३४ १२०—१२२

चौदह गुणस्थान में क्षय होने वाली प्रकृतियों का
मतान्तर उपसंहार १२०

परिशिष्ट १२३—२१६

कर्म बन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पटीकरण १२५
कालगणना: जैन दृष्टि १६२
तुलनात्मक मन्तव्य १७६
बन्धयन्त्र १८०
उदययंत्र १८२
उदीरणायन्त्र १८३
सत्तायन्त्र १८४
गुणस्थान-बन्धादि विषयक यन्त्र १८६
उदय अविनाभावी प्रकृतियों का विवरण १९४—१९५
कर्म प्रकृतियों का बन्धनिमित्तक विवरण १९६
गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा
सत्ता का विवरण १९७

□□

प्रस्तावना

कर्मसिद्धान्त मानने का आधार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार पुरुषार्थ हैं। इनके बारे में अनेक चिन्तकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये हैं। जिनकी दृष्टि में यह दृश्यमान जगत ही सब कुछ है, उन्होंने तो अर्थ और काम पुरुषार्थ को मुख्य माना और किसी न किसी प्रकार से सुख प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। अतएव वे ऐसा कोई सिद्धान्त मानने के लिए बाध्य नहीं थे और न उत्सुक ही, जो अच्छे-बुरे, जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति कराने वाला हो। यह पक्ष चार्वाकदर्शन-परम्परा के नाम से प्रख्यात हुआ। जिसका एकमात्र लक्ष्य है—

> **यावज्जीवेद् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**
> **भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥**

लेकिन इसके साथ ही यह चिन्तन भी व्यापक रहा है और आज भी है, जो दृश्यमान जगत के अतिरिक्त अन्य कोई श्रेष्ठ या कनिष्ठ लोक, मृत्यु के बाद जन्मान्तर की सत्ता भी स्वीकार करता है। अतएव धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को भी स्वीकार किया गया। परलोक और पुनर्जन्म में सुखप्राप्ति धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ माने बिना सम्भव नहीं है। उसका मन्तव्य है कि 'यदि कर्म न हों तो जन्म-जन्मान्तर, इहलोक-परलोक का सम्बन्ध ठीक से नहीं बैठ सकता है। अतएव पुनर्जन्म की

मान्यता के आधारभूत कर्मतत्त्व का मानना आवश्यक है।' इस प्रकार की मान्यता वाले पुनर्जन्मवादी कहलाते हैं।

कर्मसिद्धान्त की मान्यता : दो विचारधाराएं

इन कर्मसिद्धान्तवादियों में दो विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक विचारधारा यह है कि कर्म के फलस्वरूप जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, किन्तु श्रेष्ठलोक और श्रेष्ठजन्म के लिए कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए। श्रेष्ठलोक के रूप में उनकी कल्पना स्वर्ग तक ही सीमित है। वे धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को मानने वाले हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष का पुरुषार्थ रूप में कोई स्थान नहीं है। इसलिए इनको त्रिपुरुषार्थवादी कहा जाता है।

इन त्रिपुरुषार्थवादी विचारकों का मन्तव्य संक्षेप में इस प्रकार है कि धर्म—शुभकर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभकर्म का फल नरक आदि है। यह धर्माधर्म ही पुण्य-पाप या अदृष्ट कहलाते हैं और इन्हीं के द्वारा जन्म-जन्मान्तर, स्वर्ग-नरक की प्राप्तिरूप चक्र चलता रहता है। जिसका उच्छेद शक्य नहीं है, किन्तु इतना ही सम्भव है कि यदि उत्तमलोक और उत्तमसुख पाना है तो धर्म पुरुषार्थ करो। अधर्म--पाप हेय है और धर्म-पुण्य उपादेय है। धर्म और अधर्म के रूप में इनकी मान्यता है कि समाजमान्य शिष्ट आचरण धर्म और निन्द्य आचरण अधर्म है। अतएव सामाजिक सुव्यवस्था के लिए शिष्ट आचरण करना चाहिए। इस विचारधारा की प्रवर्तकधर्म के नाम से प्रसिद्धि हुई। जहाँ भी प्रवर्तकधर्म का उल्लेख किया जाता है, वह इन त्रिपुरुषार्थवादी चिन्तकों के मन्तव्य का सूचक है। ब्राह्मण-मार्ग, मीमांसक या कर्मकाण्डी के नाम से यह त्रिपुरुषार्थवादी प्रसिद्ध हैं।

इसके विपरीत कर्मतत्त्ववादी दूसरे समर्थकों का मंतव्य उक्त

प्रवर्तकधर्मवादियों, त्रिपुरुषार्थवादियों से नितान्त भिन्न है। वे मानते हैं कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शिष्ट-सम्मत एवं विहित कर्मों (कार्यों) के आचरण से स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है; किन्तु स्वर्ग की प्राप्ति करने में ही सन्तोष मानना जीव का लक्ष्य नहीं है और न इसमें आत्मा के पुरुषार्थ की पूर्णता है। इसमें आत्मा के स्वतन्त्र, शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि कहाँ है? अतएव आत्मस्वरूप की उपलब्धि एवं पुरुषार्थ की पूर्णता के लिए अधर्म—पाप की तरह धर्म-पुण्य भी हेय है। इनके अनुसार चौथा मोक्ष पुरुषार्थ स्वतन्त्र है और मोक्ष ही एकमात्र आत्मा का लक्ष्य है। मोक्ष के लिए पुण्यरूप या पापरूप दोनों प्रकार के कर्म हेय हैं। यह भी नहीं है कि कर्म का उच्छेद नहीं किया जा सकता है। प्रयत्न के द्वारा कर्म का उच्छेद शक्य है। यह विचारधारा निवर्तकधर्म के रूप में प्रख्यात हुई। इसकी दृष्टि सामाजिक व्यवस्था तक ही सीमित न होकर मुख्य रूप से व्यक्ति-विकासवादी (आत्म-विकासवादी) है। व्यक्ति अपना विकास करके परम लक्ष्य की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकता है।

निवर्तकधर्म का कर्म विषयक मंतव्य

निवर्तकधर्म के मन्तव्यानुसार आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति शक्य है और वह स्वयं आत्मा के प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव होती है। कर्म की उत्पत्ति के मूल कारण का संकेत करते हुए कहा गया है कि धर्म—पुण्य और अधर्म—पाप के मूल कारण प्रचलित सामाजिक प्रवृत्ति-निवृत्ति, विधि-निषेध नहीं है, अपितु अज्ञान और राग-द्वेष हैं। कैसा भी शिष्ट-सम्मत सामाजिक आचरण क्यों न हो, अगर वह अज्ञान एवं राग-द्वेषमूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होगी। पुण्य-पाप का यह भेद तो स्थूलदृष्टि वालों के लिए है। वस्तुतः पुण्य एवं पाप सब अज्ञान एवं राग-द्वेष मूलक होने से अधर्म एवं हेय हैं। इसलिए आत्मस्वातन्त्र्य

के लिए अज्ञान एवं राग-द्वेषमूलक समाजविहित शिष्टकर्म भी अधर्ममूलक पाप कर्मों की तरह त्याज्य हैं और उनका उच्छेद होना आवश्यक है।

जब निवर्तकधर्मवादियों ने कर्म का उच्छेद और मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ मान लिया तब कर्म के उच्छेदक और मोक्ष के जनक कारणों को निश्चित करना आवश्यक हो गया। अतएव कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेषजनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का मुख्य उपाय अज्ञान-विरोधी सम्यग्ज्ञान और राग-द्वेष-विरोधी समभाव (सम्यक्-चारित्र), संयम को साधन माना तथा स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि उपायों को सम्यग्ज्ञान और संयम के सहयोगी रूप में स्वीकार किया।

निवर्तकधर्मवादियों ने जब मोक्ष के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनों के बारे में गहरा विचार किया तब उसके साथ ही कर्मतत्त्व का चिन्तन भी करना पड़ा। उन्होंने कर्म, उसके भेद तथा भेदों की परिभाषाएँ भी निश्चित कीं। कार्य-कारण की दृष्टि से कर्मों का वर्गीकरण किया। उनकी फल देने की शक्ति एवं काल-मर्यादा आदि का विवेचन किया। कर्मों का पारस्परिक सम्बन्ध, आत्मा की शक्ति आदि का भी विचार एवं इससे सम्बन्धित और भी जो कुछ विचार आवश्यक थे, सभी का क्रमबद्ध व्यवस्थित विवेचन किया। इस प्रकार निवर्तकधर्मवादियों के कर्म-विषयक व्यवस्थित चिन्तन से एक अच्छे कर्मशास्त्र का निर्माण हो गया।

निवर्तकधर्मवादियों में विचारभिन्नताएँ

कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में निवर्तकधर्मवादियों का सामान्य मन्तव्य यह है कि किसी न किसी प्रकार कर्मों के मूल को नष्ट करके उस अवस्था को प्राप्त करना, जिससे पुनः जन्म-मरण के चक्र में न आना

पड़े। कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति से आत्मा अपने स्वरूप की उप-लब्धि करके परम अवस्था को प्राप्त कर ले। लेकिन तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के कारण उनमें विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। इनमें मुख्यतया तीन प्रकार देखे जाते हैं—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी, और (३) परमाणुवादी होकर भी प्रधान की छाया वाला। इनमें परमाणुवादी मोक्ष-समर्थक होने पर भी प्रवर्तकधर्म के उतने विरोधी नहीं, जितने दूसरे और तीसरे प्रकार के विचारक हैं। यह पक्ष न्याय-वैशेषिक दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

दूसरा पक्ष प्रधानवादी है। यह पक्ष आत्यन्तिक कर्मनिवृत्ति का समर्थक होने से प्रवर्तकधर्म को हेय बतलाता है। यह पक्ष सांख्य-योग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी की तत्त्वज्ञान की भूमिका के आधार पर वेदान्त-दर्शन और संन्यास मार्ग की प्रतिष्ठा हुई।

तीसरा पक्ष प्रधान-छायापन्न परमाणुवादियों का है। यह पक्ष भी दूसरे पक्ष की तरह प्रवर्तकधर्म का आत्यन्तिक विरोधी है जो जैनदर्शन के नाम से विख्यात है। बौद्ध-दर्शन भी प्रवर्तकधर्म का विरोधी माना जाता है, लेकिन वह दूसरे और तीसरे पक्ष के मिश्रण का एक उत्तरवर्ती विकास कहलाता है।

बौद्ध और सांख्यदर्शन में कर्मतत्त्व के बारे में कुछ विचार अवश्य किया गया है, लेकिन बाद में उन्होंने ध्यान-मार्ग का अनुसरण करके उस पर ही अपनी चिन्तनधारा केन्द्रित कर ली। जिससे उनका दृष्टि-कोण एकांगी बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कर्मसाहित्य में उनकी देन नगण्य-सी रह गई और जो कुछ है भी, वह चिन्तन को विकसित करने में सहायक नहीं बनती है। लेकिन जैन-चिन्तकों ने अन्य-अन्य विषयों के चिन्तन की तरह कर्मतत्त्व के बारे में भी गहन

विचार और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करके भारतीयदर्शन को महान देन दी जो अपने आप में अनूठी और अद्वितीय है।

जैनदर्शन की कर्मतत्त्व सम्बन्धी रूपरेखा

जैनदर्शन में कर्म का लक्षण, उसके भेद, प्रभेद आदि का दिग्दर्शन कराते हुए प्रत्येक कर्म की बन्ध, सत्ता और उदय—यह तीन अवस्थायें मानी हैं। जैनेतर दर्शनों में भी कर्म की इन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है। उनमें बन्ध को 'क्रियमाण', सत्ता को 'संचित' और उदय को 'प्रारब्ध' कहा है। परन्तु जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों और उनके प्रभेदों के द्वारा संसारी आत्मा का अनुभवगम्य विभिन्न अवस्थाओं का जैसा स्पष्ट व सरल विवेचन किया है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं है। पातंजलदर्शन में भी कर्म के जाति, आयु और भोग—यह तीन तरह के विपाक बतलाये हैं, लेकिन जैनदर्शन के कर्म सम्बन्धी विचारों के सामने वह वर्णन अस्पष्ट और अकिंचित्कर प्रतीत होता है।

जैनदर्शन में आत्मा और कर्म का लक्षण स्पष्ट करते हुए आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है? उसके कारण क्या है? किस कारण से कर्म में कैसी शक्ति उत्पन्न हो रही है? आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध किस समय तक रहता है, उसकी कम से कम और अधिक से अधिक कितनी काल-मर्यादा है? कर्म कितने समय तक फल देने में समर्थ रहता है? कर्म के फल देने का समय बदला भी जा सकता है या नहीं; और यदि बदला भी जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं? कर्मशक्तियों की तीव्रता को मन्दता में और मन्दता को तीव्रता में परिणमित करने वाले कौन से आत्म-परिणाम हैं? स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलिन है और कर्म के आवरणों से आवृत होने पर भी आत्मा अपने स्वभाव से च्युत क्यों नहीं होती? इत्यादि कर्मों के बन्ध, सत्ता

और उदय की अपेक्षा उत्पन्न होने वाले संख्यातीत प्रश्नों का सयुक्तिक विशद, विस्तृत स्पष्टीकरण जैन कर्मसाहित्य में किया गया है।

जैन कर्मशास्त्र में कर्म की जिन विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, उनका सामान्यतया बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन और अबाध इन ग्यारह भेदों में वर्गीकरण कर सकते हैं। इस वर्गीकरण में कर्म की शक्ति के साथ आत्मा की क्षमता का पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण किया गया है। जिससे वह जन्म-मरण के चक्र का भेदन कर अपने स्वरूप को प्राप्त कर उसमें स्थित हो जाती है।

जैनदर्शन की उक्त कर्मविषयक संक्षिप्त रूपरेखा के आधार पर अब 'कर्मस्तव' (द्वितीय कर्मग्रन्थ) में वर्णित विषय के बारे में विचार करते हैं। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से आत्मशक्ति के विकास का क्रम और उस विकासपथ पर बढ़ती हुई आत्मा की विशुद्धता के कारण क्रम-क्रम से कर्मों की बन्ध, सत्ता और उदयावस्था की हीनता का दिग्दर्शन कराया है।

द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में ग्रन्थकार ने कर्म की मूल तथा उत्तरप्रकृतियों एवं उनकी बन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता योग्य संख्या का संकेत किया है और इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में उन प्रकृतियों की बन्ध, उदय-उदीरणा, सत्ता के लिए जीव की योग्यता का वर्णन किया गया है।

विषय वर्णन की शैली

संसारी जीव अनन्त हैं। अतः किसी एक व्यक्ति के आधार से उन सब की बन्धादि सम्बन्धी योग्यता का दिग्दर्शन कराया जाना सम्भव

नहीं है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति की कर्मबन्धादि सम्बन्धी योग्यता भी सदा एक-समान नहीं रहती है, क्योंकि प्रतिक्षण परिणामों और विचारों के बदलते रहने के कारण बन्धादि सम्बन्धी योग्यता भी प्रति-समय परिवर्तित होती रहती है। अतएव अध्यात्मज्ञानियों ने संसारी जीवों के उनकी आभ्यन्तर शुद्धिजन्य उत्क्रान्ति, अशुद्धि-जन्य अपक्रान्ति के आधार पर उनका वर्गीकरण किया। इस वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान क्रम' कहते हैं।

गुणस्थान का यह क्रम ऐसा है कि जिससे उन विभागों में सभी संसारी जीवों का समावेश एवं बन्धादि सम्बन्धी उनकी योग्यता को बताना सहज हो जाता है और एक जीव की योग्यता जो प्रतिसमय बदला करती है, उसका भी निदर्शन किसी न किसी विभाग द्वारा किया जा सकता है। इन गुणस्थानों का क्रम संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भाव के मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण द्वारा सिद्ध करके निर्धारित किया गया है। इससे यह बताना और समझना सरल हो जाता है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक शुद्धि या अशुद्धि वाला जीव इतनी कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय-उदीरणा और सत्ता का अधि-कारी है।

गुणस्थानों का संक्षेप में विवेचन

गुणों (आत्मशक्तियों) के स्थानों को अर्थात् आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैनदर्शन में 'गुणस्थान' यह एक पारिभाषिक शब्द है और उसका अर्थ आत्मशक्तियों के आवि-र्भाव—उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तर-तम-भावापन्न अवस्था है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप शुद्ध चेतना और पूर्ण आनन्दमय है, लेकिन जब तक उस पर तीव्र कर्मावरण छाया हुआ हो तब तक उसका

असली स्वरूप दिखाई नहीं देता है। जैसे-जैसे आवरण शिथिल या नष्ट होते हैं वैसे-वैसे उसका असली स्वरूप प्रगट होता जाता है। जब आवरणों की तीव्रतम स्थिति होती है तब आत्मा अविकसित दशा के निम्नतम स्तर पर होती है। यह आत्मा की निम्नतम स्तर की स्थिति है और जब आवरण बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की पूर्णता में स्थिर हो जाती है। जो उसका पूर्ण स्वभाव है। उच्चतम सर्वोच्च अप्रतिपाती स्थिति है।

आत्मा पर कर्मों के आवरण की तीव्रता जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे आत्मा अपनी प्राथमिक भूमिका को छोड़कर शनैः शनैः शुद्ध स्वरूप का लाभ करती हुई चरम उच्च भूमिका की ओर गमन करती है। इस गमनकालीन स्थिति में आत्मा अनेक प्रकार की उच्च-नीच परिणामजन्य स्थितियों का अनुभव करती है, जिससे उत्थान की ओर अग्रसर होते हुए भी पुनः निम्न भूमिका पर भी आ पहुँचती है और पुनः उस निम्न भूमिका से अपने परिणाम-विशेषों से उत्थान की ओर अग्रसर होती है। यह क्रम चलता रहता है और अन्त में आत्म-शक्ति की प्रबलता से उन स्थितियों को पार करते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेती है। प्रारम्भिक और अन्तिम तथा मध्य की संक्रांति-कालीन इन सब अवस्थाओं का वर्गीकरण करके उसके चौदह विभाग किये हैं, जो चौदह गुणस्थान कहलाते हैं।

गुणस्थान क्रम का आधार

कर्मों में मोहकर्म प्रधान है अतः इसका आवरण प्रमुखतम है अर्थात् जब तक मोह बलवान और तीव्र है तब तक अन्य सभी कर्मावरण सबल और तीव्र बने रहते हैं और मोह के निर्बल होते ही अन्य आव-रणों की स्थिति भी निर्बल बनती जाती है। इसलिए आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता

है। इसी कारण आत्मा के विकास की यह क्रमगत अवस्थाएं—गुणस्थान मोहशक्ति की उत्कटता-मन्दता और अभाव पर आधारित हैं।

मोह की प्रधान शक्तियां दो हैं—दर्शनमोह एवं चारित्रमोह। इनमें से प्रथम शक्ति आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय, विवेक नहीं होने देती है। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देती है। व्यवहार में भी यही देखा जाता है कि वस्तु का यथार्थ दर्शन-बोध होने पर उस वस्तु को पाने या त्यागने की चेष्टा की जाती है। आध्यात्मिक विकासगामी आत्मा के लिए भी यही दो मुख्य कार्य हैं—स्वरूप-दर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति, यानी स्वरूप में स्थित होना। इन दोनों शक्तियों में से स्वरूप-बोध न होने देने वाली शक्ति को **दर्शनमोह** और स्वरूप में स्थित न होने देने वाली शक्ति को **चारित्रमोह** कहते हैं। इनमें दर्शनमोहरूप प्रथम शक्ति जब तक प्रबल हो तब तक दूसरी चारित्रमोहरूप शक्ति कभी निर्बल नहीं हो सकती है। प्रथम शक्ति के मन्द, मन्दतम होने के साथ ही दूसरी शक्ति भी तदनुरूप होने लगती है। स्वरूपबोध होने पर स्वरूप-लाभ-प्राप्ति का मार्ग सुगम हो जाता है।

आत्मा की अधिकतम आवृत अवस्था प्रथम गुणस्थान है। जिसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इसमें मोह की दोनों शक्तियों का प्रबलतम प्रभाव होने के कारण आत्मा आध्यात्मिक स्थिति से सर्वथा निम्न दशा में रहती है। फिर भी उस शक्ति का अनन्तवां भाग उद्घाटित रहता है। इस भूमिका में आत्मा भौतिक वैभव का उत्कर्ष कितना भी कर ले, लेकिन स्वरूप-बोध की दृष्टि से प्रायः शून्य रहती है। लेकिन विकास करना तो आत्मा का स्वभाव है, अतएव जानते-अनजानते जब मोह का आवरण कम होने लगता है तब वह विकास की ओर अग्रसर हो जाती है और तीव्रतम राग-द्वेष को मन्द करती हुई मोह की

प्रथम शक्ति को छिन्न-भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रगट कर लेती है। यही विकास के प्रारम्भ होने की भूमिका है।

स्वरूप-बोध का मार्ग प्रशस्त होने पर भी कभी आत्मा के परिणाम ऊर्ध्वमुखी होते हैं, कभी अधोमुखी बनते हैं। यह क्रम भी तब तक चलता रहता है जब तक आत्म-परिणामों में स्थायित्व नहीं आ जाता। यह स्थायित्व दो प्रकार से प्राप्त होता है—या तो स्वरूप-बोध के आवरण का पूर्णतया क्षय हो या वह आवरण शमित (शान्त) हो जाय। शमित होने की स्थिति में तो निमित्त मिलने पर आवरण अपना प्रभाव दिखाता है, लेकिन क्षय होने पर स्वरूप-बोध का सतत प्रवाह बना रहता है।

दर्शनशक्ति के विकास के बाद चारित्रशक्ति के विकास का क्रम आता है। मोह की प्रधान शक्ति—दर्शनमोह को शिथिल करके स्वरूप-दर्शन कर लेने के बाद भी जब तक दूसरी शक्ति—चारित्रमोह को शिथिल न किया जाये तब तक आत्मा की स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती है। इसलिए वह मोह की दूसरी शक्ति को मन्द करने के लिए प्रयास करती है। जब वह उस शक्ति को अंशतः शिथिल कर पाती है, तब उसकी उत्क्रान्ति और भी ऊर्ध्वमुखी होने लगती है। जैसे-जैसे यह स्थिति वृद्धिगत होती है, वैसे-वैसे स्वरूपस्थिरता भी बढ़ती जाती है।

इस अवस्था में भी दर्शनमोह को शमित करने वाली आत्मा स्वरूप-बोध से पतित होकर पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आ सकती है और तब पूर्व में जो कुछ भी पारिणामिक शुद्धि आदि की थी, वह सब व्यर्थ-सी हो जाती है। लेकिन जिसने दर्शनमोह का सर्वथा नाश कर दिया है, वह आत्मा तो पूर्णता को प्राप्त करके ही विराम लेती है।

गुणस्थान के इन चौदह भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक होती है।[1] विकास के इस क्रम का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्रमोह शक्ति की शुद्धि की तरतमता पर निर्भर है। पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में आत्मा की दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास इसलिए नहीं हो पाता कि उनमें उनके प्रतिबन्धक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों से वे प्रतिबन्धक संस्कार मन्द होते हैं, जिससे उन-उन गुणस्थानों में शक्तियों के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इन प्रतिबन्धक संस्कारों को कषाय कहते हैं।

इन कषायों के मुख्य रूप में चार विभाग हैं। ये विभाग काषायिक संस्कारों की फल देने की तरतम शक्ति पर आधारित हैं। इनमें से प्रथम विभाग—दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय का है। यह विभाग दर्शनशक्ति का प्रतिबन्धक होता है। शेष तीन विभाग जिन्हें क्रमश अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं, चारित्रशक्ति के प्रतिबन्धक हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शनशक्ति का आविर्भाव नहीं होता है, लेकिन जैसे-जैसे मन्दता या अभाव की स्थिति बनती है, दर्शनशक्ति व्यक्त होती है।

दर्शनशक्ति के व्यक्त होने पर यानी—दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का वेग शान्त या क्षय होने पर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में

---

१. यह कथन सामान्य दृष्टि से है। वैसे दूसरा गुणस्थान तो विकास की भूमिका नहीं किन्तु ऊपर से पतित हुई आत्मा के क्षणिक अवस्थान का ही सूचक है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का संस्कार नहीं रहता है। जिससे पांचवें गुणस्थान में चारित्रशक्ति का प्राथमिक विकास होता है। इनके अनन्तर पांचवें गुणस्थान के अन्त में प्रत्याख्यानावरण कषाय का वेग न रहने से चारित्रशक्ति का विकास और बढ़ता है, जिससे इन्द्रियविषयों से विरक्त होने पर जीव साधु (अनगार) बन जाता है। यह विकास की छठवीं भूमिका है। इस भूमिका में चारित्र की विपक्षी संज्वलन कषाय के विद्यमान रहने से चारित्रपालन में विक्षेप तो पड़ता रहता है, किन्तु चारित्रशक्ति का विकास दबता नहीं है। शुद्धि और स्थिरता में अन्तराय आते रहते हैं और आत्मा उन विघातक कारणों से संघर्ष भी करती रहती है। इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर जब संज्वलन संस्कारों को दबाती हुई आत्मा विकास की ओर गतिशील रहती है तब सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाती है। बारहवें गुणस्थान में तो दर्शन-शक्ति और चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे दोनों शक्तियां पूर्ण विकसित हो जाती हैं। उस स्थिति में शरीर, आयु आदि का सम्बन्ध रहने से जीवन्मुक्त अरिहन्त अवस्था प्राप्त हो जाती है और बाद में शरीर आदि का भी वियोग हो जाने पर शुद्ध ज्ञान, दर्शन आदि शक्तियों से सम्पन्न आत्मावस्था प्राप्त हो जाती है। जीवन्मुक्त अवस्था तेरहवां और शरीर आदि से रहित पूर्ण निष्कर्म अवस्था चौदहवां गुणस्थान कहलाता है।

चौदहवां गुणस्थान प्राप्त आत्मा अपने यथार्थ रूप में विकसित होकर सदा के लिए सुस्थिर दशा प्राप्त कर लेती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। आत्मा की समग्र शक्तियों के अत्यधिक रूप से अव्यक्त रहना प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है और क्रमिक विकास करते हुए परिपूर्ण रूप को व्यक्त करके आत्मस्थ हो जाना चौदहवां अयोगिकेवली गुण-

स्थान है। यह चौदहवां गुणस्थान चतुर्थ गुणस्थान में देखे गये ईश्वरत्व, परमात्मत्व का तादात्म्य है। पहले और चौदहवें गुणस्थानों के बीच जो दो से लेकर तेरहवें पर्यन्त गुणस्थान हैं, वे कर्म और आत्मा के द्वन्द्वयुद्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली उपलब्धियों के नाम हैं। क्रमिक विकास के मार्ग में आत्मा को किन-किन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, यही गुणस्थानों की क्रमबद्धश्रृंखला की वे एक-एक कड़ियां हैं।

यहां गुणस्थानों की अति संक्षिप्त रूपरेखा बतलाई है। गुणस्थानों के नाम, उनका क्रमबद्ध व्यवस्थित विशेष विवरण इसी ग्रन्थ की दूसरी गाथा में दिया गया है।

अन्य ग्रन्थों में गुणस्थान सम्बन्धी चर्चा

जैनदर्शन के समान ही अन्य दर्शनों में भी आत्मविकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उनमें भी कर्मबद्ध आत्मा को क्रमिक विकास करते हुए पूर्ण मुक्त दशा को प्राप्त करना माना है। योगवाशिष्ट और पातंजल योगसूत्र आदि ग्रन्थों में आत्मविकास की भूमिकाओं का विस्तार से कथन किया गया है योगवाशिष्ट में सात भूमिकायें अज्ञान की और सात भूमिकायें ज्ञान की मानी हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

अज्ञान की भूमिकायें—१. बीजजाग्रत, २. जाग्रत, ३ महाजाग्रत, ४. जाग्रतस्वप्न, ५. स्वप्न, ६. स्वप्नजाग्रत, ७. सुषुप्तक।

ज्ञान की भूमिकायें—१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति ६. पदार्थाभाविनी, ७. तूर्यगा।

उक्त १४ भूमिकाओं का सारांश निम्न प्रकार है—

१. **बीजजाग्रत**—इस भूमिका में अहं एवं ममत्व बुद्धि की जागृति नहीं होती है। किन्तु बीज रूप में जागृति की योग्यता होती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र निकाय में मानी गई है।

२. **जाग्रत**—इसमें अहं एवं ममत्व बुद्धि अल्पांश में जाग्रत होती है।

३. **महाजाग्रत**—इस भूमिका में अहं व ममत्व बुद्धि विशेष रूप से पुष्ट होती है। यह भूमिका मानव, देवसमूह में मानी जा सकती है।

४. **जाग्रतस्वप्न**—इस भूमिका में जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चन्द्र के बदले दो दिखना, सीप में चांदी का भ्रम होना। इस भूमिका में भ्रम होने के कारण यह जाग्रतस्वप्न कहलाती है।

५. **स्वप्न**—निद्रावस्था में आए हुए स्वप्न का जागने के पश्चात जो भान होता है, उसे स्वप्न भूमिका कहते हैं।

६. **स्वप्नजाग्रत**— वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का इसमें समावेश होता है। शरीरपात हो जाने पर भी चलता रहता है।

७. **सुषुप्तक**—प्रगाढ़ निद्रा जैसी अवस्था। इसमें जड़ जैसी स्थिति हो जाती है और कर्म मात्र वासना रूप में रहे हुए होते हैं।

यह सात अज्ञानमय भूमिका के भेदों का सारांश है। इनमें तीसरी से सातवीं तक की भूमिकायें मानव निकाय में होती हैं।

ज्ञानमय भूमिकाओं का रूप निम्न है—

१. **शुभेच्छा**—आत्मावलोकन की वैराग्ययुक्त इच्छा।

२. **विचारणा**—शास्त्र और सत्संगपूर्वक वैराग्याभ्यास के कारण सदाचार में प्रवृत्ति।

३. **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के कारण इन्द्रियविषयों में आसक्ति कम होना।

४. **सत्त्वापत्ति**—सत्य और शुद्ध आत्मा में स्थिर होना।

(५) **असंसक्ति**—असंगरूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रादुर्भाव होना।

(६) **पदार्थाभाविनी**—इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों पर से इच्छायें नष्ट हो जाती हैं।

(७) **तूर्यगा**—भेदभाव का बिल्कुल भान भूल जाने से एक मात्र स्वभावनिष्ठा में स्थिर रहना। यह जीवन्मुक्त जैसी अवस्था होती है।

विदेहमुक्ति का विषय उसके पश्चात् की तूर्यातीत अवस्था है।

अज्ञान की सात भूमिकाओं को अज्ञान की प्रबलता से अविकास-क्रम में और ज्ञान की सात भूमिकाओं में क्रमशः ज्ञान की वृद्धि होने से विकास-क्रम में गिना जा सकता है।

बौद्धदर्शन में भी आत्मा के विकास-क्रम के बारे में चिन्तन किया गया है और आत्मा की संसार और मोक्ष आदि अवस्थायें मानी हैं। त्रिपिटक में आध्यात्मिक विकास का वर्णन उपलब्ध होता है। जिसमें विकास की निम्नलिखित ६ स्थितियाँ बताई हैं—

(१) अन्ध पुथुज्जन, (२) कल्याण पुथुज्जन, (३) सोतापन्न, (४) सकदागामी, (५) औपपातिक, (६) अरहा।

पुथुज्जन का अर्थ है सामान्य मानव। उसके अन्ध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन यह दो भेद किये गये हैं। जैनागमों में कर्म सम्बन्धी वर्णन की तरह बौद्ध साहित्य में भी दस संयोजनाओं (बन्धन) का वर्णन है।

अन्ध पुथुज्जन और कल्याण पुथुज्जन में दसों प्रकार की संयोजनायें होती हैं। लेकिन उन दोनों में यह अन्तर है कि पहले को आर्य दर्शन और सत्संग प्राप्त नहीं होता है, जबकि दूसरे को वह प्राप्त होता है। दोनों निर्वाणमार्ग से पराङ्मुख हैं। निर्वाणमार्ग को प्राप्त करने

वालों के चार प्रकार हैं। जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय किया वे सोतापन्न, जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय और दो को शिथिल किया वे सकदागामी और जिन्होंने पाँच का क्षय किया वे औपपातिक हैं। जिन्होंने दसों संयोजनाओं का क्षय कर दिया वे अरहा कहलाते हैं।

इनमें प्रथम स्थिति आध्यात्मिक अविकास-काल की है। दूसरी में विकास का अल्पांश में स्फुरण होता है, किन्तु विकास की अपेक्षा अविकास का प्रभाव विशेष रहता है। तीसरी से छठी स्थिति आध्यात्मिक विकास के उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की है और वह विकास छठवीं भूमिका—अरहा में पूर्ण होता है और इसके पश्चात् निर्वाण की स्थिति बनती है।

आजीवक मत में भी आत्मविकास की क्रमिक स्थितियों का संकेत किया गया होगा। क्योंकि आजीवक मत का अधिनेता मंखलिपुत्त गोशालक भगवान महावीर की देखा-देखी करने वाला एक प्रतिद्वन्द्वी सरीखा माना जाता है। इसलिए उसने अवश्य ही आत्मविकास की क्रमिक स्थितियों को बतलाने के लिए गुणस्थानों जैसी परिकल्पना की होगी। लेकिन उसका कोई साहित्य उपलब्ध न होने से निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। फिर भी बौद्ध साहित्य में आत्मविकास के लिए आजीवक मत के आठ सोपान बतलाये हैं—

(१) मन्द, (२) खिड्डा, (३) पद वीमंसा, (४) उज्जुगत, (५) सेख, (६) समण, (७) जिन, (८) पन्न।

इन आठों का मज्झिमनिकाय की सुमंगलविलासनी टीका में बुद्धघोष ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

(१) **मन्द**—जन्म दिन से लेकर सात दिन तक गर्भ-निष्क्रमण-जन्य दुःख के कारण प्राणी मन्दस्थिति में रहता है।

(२) **खिड्डा**—दुर्गति से आकर जन्म लेने वाला बालक पुनः-पुनः रुदन करता है और सुगति से आने वाला सुगति का स्मरण कर हास्य करता है। यह खिड्डा (क्रीड़ा) भूमिका है।

(३) **पद वीमंसा**—माता-पिता के हाथ या अन्य किसी के सहारे से बालक का धरती पर पैर रखना पद वीमंसा है।

(४) **उज्जुगत**—पैरों से स्वतन्त्र रूप से चलने की सामर्थ्य प्राप्त करना।

(५) **सेख**—शिल्प कला आदि के अध्ययन के समय की शिष्य भूमिका।

(६) **समण**—घर से निकलकर संन्यास ग्रहण करना, समण भूमिका है।

(७) **जिन**—आचार्य की उपासना कर ज्ञान प्राप्त करने की भूमिका।

(८) **पन्न**—प्राज्ञ बना हुआ भिक्षु जब कुछ भी बातचीत नहीं करता ऐसे निर्लोभ श्रमण की भूमिका पन्न है।

इन आठ भूमिकाओं में प्रथम तीन भूमिकाएँ अविकास का और अन्त की पाँच भूमिकायें विकास का सूचन करने वाली हैं। उनके बाद मोक्ष होना चाहिए।

उक्त पातंजल, बौद्ध और आजीवक मत की आत्मविकास के लिए मानी जाने वाली भूमिकाओं में जैनदर्शन के गुणस्थानों जैसी क्रमबद्धता और स्पष्ट स्थिति नहीं है। फिर भी उनका प्रासंगिक संकेत इसलिए किया है कि जन्म-जन्मान्तर एवं इहलोक-परलोक मानने वाले दर्शनों ने आत्मा की कर्मबद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए चिन्तन किया है।

ग्रन्थ का विषय-विभाग और रचना का आधार

इस द्वितीय कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों के क्रम में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय-उदीरणा और सत्ता का कथन किया गया है। अतः विषय-विभाग की दृष्टि में इसके यही मुख्य चार विभाग हैं। बन्ध अधिकार में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की बन्ध योग्यता को, उदय, उदीरणा और सत्ता अधिकार में क्रमशः उदय, उदीरणा और सत्ता सम्बन्धी योग्यता को दिखलाया है।

इस ग्रन्थ की रचना प्राचीन कर्मस्तव नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के आधार पर हुई है और उसका व इसका विषय एक ही है। दोनों में भेद इतना ही है कि प्राचीन कर्मग्रन्थ में ५५ गाथायें हैं और इसमें ३४। प्राचीन में जो बात कुछ विस्तार से कही गई है, इसमें उसे परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है।

प्राचीन के आधार से बनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में उल्लिखित नहीं किया है, फिर भी इसका कर्मस्तव नाम होने में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ की अन्तिम गाथा में **नेयं कम्मत्थयं सोउं** इस अंश से इस नाम का कथन कर दिया है।

व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम कर्मस्तव है, किन्तु उसकी प्रारम्भिक गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव' है। इसी नाम से गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी एक प्रकरण है। दोनों के नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दोनों में 'स्तव' शब्द समान होने पर भी गोम्मटसार कर्मकाण्ड में स्तव शब्द का अर्थ भिन्न है। 'कर्मस्तव' में स्तव शब्द का मतलब स्तुति से है, जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, किन्तु गोम्मटसार में स्तव का अर्थ

स्तुति न लेकर एक सांकेतिक अर्थ किया है—किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला शास्त्र।

इस प्रकार विषय और नामकरण में समानता होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदायभेद तथा ग्रन्थरचना सम्बन्धी देशकाल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

प्राक्कथन के रूप में कुछ बातों का संकेत किया गया है। पाठक गण इन विचारों के आधार पर ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए कर्म साहित्य के अन्य-अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे तो उन्हें एक विशेष आनन्द की अनुभूति होगी।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'
—देवकुमार जैन

हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१-६	कर्मग्रन्थ [भाग १ से ६ तक सम्पूर्ण सेट]	७५)
७	प्रवचन प्रभा	५)
८	जीवन ज्योति	५)
९	धवल-ज्ञान-धारा	५)
१०	प्रवचन-सुधा	५)
११	साधना के पथ पर	५)
१२	मिश्री की डलियां [भाग १]	१२)
१३	जैन रामयशोरसायन [जैन रामायण]	१६)
१४	पांडव यशोरसायन [जैन महाभारत]	२५)
१५	दशवैकालिक सूत्र [पद्यमय अनुवाद व हिन्दी अनुवाद]	१५)
१६	उत्तराध्ययन सूत्र [चरितानुवाद]	१५)
१७	जैनधर्म में तप: स्वरूप और विश्लेषण	१०)
१८	तीर्थंकर महावीर	१०)
१९	संकल्प और साधना के धनी—मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज	२५)
२०-२९	सुधर्म प्रवचन माला [भाग १ से १०]	६)
३०	किस्मत का खिलाड़ी	४)
३१	बीज और वृक्ष	४)
३२	भाग्य-क्रीड़ा	४)
३३	सांझ-सबेरा	४)
३४	विश्वबन्धु महावीर	२)

३५	हृदय परिवर्तन [नाटक]	२)
३६	सात्विक और व्यसन मुक्त जीवन	१)
३७	विपत्तियों की जड़-जूआ	१)
३८	मांसाहार अनेक अनर्थों का कारण	१)
३९	मानव का शत्रु : मद्यपान	१)
४०	वेश्यागमन : मानव जीवन का कोढ़	१)
४१	शिकार : पापों का स्रोत	१)
४२	चोरी : अनैतिकता की जननी	१)
४३	परस्त्री-सेवन : सर्वनाश का मार्ग	१)
४४	जीवन-सुधार [उक्त आठों पुस्तकों का सेट]	१०)

प्राप्ति स्थान :

श्रीमरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार ब्यावर [राजस्थान]

द्वितीय भाग

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी

कर्मग्रन्थ

[कर्मस्तव]

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

कर्मस्तव

[द्वितीय कर्मग्रन्थ]

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

गाथार्थ—श्री वीर जिनेश्वर ने जिस प्रकार गुणस्थानों में बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तास्थान को प्राप्त हुए समस्त कर्मों का क्षय किया है, उसी प्रकार हम भी कर सकें, इसी आशय से उनकी स्तुति करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में श्री वीरजिनेश्वर की स्तुति करते हुए ग्रन्थ में वर्णन किये जाने वाले विषय का संकेत किया है।

स्तुति दो प्रकार से की जाती है—प्रणाम द्वारा और असाधारण गुणोत्कीर्तन द्वारा। इस गाथा में दोनों प्रकार की स्तुतियों का अन्तर्भाव है, क्योंकि असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन स्तुति कहलाता है। सकल कर्मों का निःशेष रूप से क्षय करना भगवान महावीर का असाधारण और वास्तविक गुण है। उन्होंने कर्मों का जो क्षय किया है, वह किसी एक ही प्रकार की अवस्था रूप में विद्यमान कर्मों का नहीं किया है, अपितु बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्तारूप समग्र अवस्थाओं में रहे हुए कर्मों का क्षय करके सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप को प्राप्त

कर लिया है। यह ग्रन्थकार द्वारा की गई गुणानुवादरूप स्तुति हुई और गाथागत 'थुणिमो' क्रियापद द्वारा प्रणामरूप स्तुति की गई है।

कारण के बिना कार्य नहीं होता है। जीव का संसार में परिभ्रमण करना कार्य है और उसका कारण है कर्म। जब तक जीव संसार में रहता है, तब तक कर्मों की बन्ध, उदय आदि अवस्थायें होती रहती हैं। किन्तु जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होने पर नवीन कर्मों का बन्ध होना कम हो जाता है, वैसे-वैसे कर्मों की सत्ता-शक्ति भी धीरे-धीरे निस्सत्व—निश्शेष होती जाती है और आत्मिक गुणों का क्रमशः विकास होते-होते अन्त में समग्ररूप में कर्मक्षय होने पर जीव शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

जीव द्वारा इस शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते है। परन्तु नवीन कर्म बांधने की योग्यता का जब तक अभाव नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की आत्यन्तिक निर्जरा नहीं हो जाती, तब तक कर्म का बन्धन होना सम्भव है। कर्मों की सिर्फ बन्ध और क्षय ये दो ही स्थितियां नहीं हैं, किन्तु फल देना आदि रूप और भी स्थितियां होती हैं। कर्मों की इन स्थितियों—अवस्थाओं को मुख्य रूप से बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता कहते हैं। इन अवस्थाओं में बन्धावस्था मुख्य है और बन्ध होने पर ही उदय, उदीरणा, सत्ता आदि स्थितियां होती हैं। इन्हीं अवस्थाओं का वर्णन क्रमशः इस ग्रन्थ में किया जा रहा है। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

बन्ध—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग के निमित्तों से ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होकर अनन्तानन्त प्रदेश वाले सूक्ष्म कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध-पानी के समान एकक्षेत्रावगाढ़ होकर मिल जाना बन्ध कहलाता है। मिथ्यात्वादि से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और बँधे हुए कर्मपुद्गलों के कारण

जीव मिथ्यात्व आदि रूप परिणाम करता रहता है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर आश्रित हैं।

उदय – उदयकाल[1] आने पर शुभाशुभ फल का भोगना उदय कहलाता है। अर्थात् बाँधी गई कर्म की स्थिति के अनुसार अथवा अपवर्तना-उद्वर्तना आदि करणों से कम हुई अथवा बढ़ी हुई स्थिति के अनुसार यथासमय उदयावलिका में प्राप्त कर्म का वेदन होना उदय कहलाता है।

बन्धनकाल में कर्म के कारणभूत काषायिक अध्यवसायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार प्रत्येक कर्म में तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और तदनुसार उदयकाल आने पर कर्म-फल को भोगना पड़ता है। यह फल देने की शक्ति स्वयं कर्म में निष्ठ होती है और उसी कर्म अनुसार फल देती है, दूसरे कर्म के स्वभाव-अनुसार नहीं।

कर्म का वेदन बन्ध होते ही तत्काल नहीं होता है, किन्तु कुछ समय-विशेष तक स्थिर रहने के बाद उसका वेदन होना प्रारम्भ होता है। इस स्थिर रहने के समय को अबाधाकाल[2] कहते हैं। जैसे वर्तमान में पानी कितना भी उबल रहा हो, लेकिन उसमें पकने के लिए डाली गई वस्तु कुछ समय के लिए बर्तन के तले में बैठ जाती है और फिर उसके बाद उसका पकना प्रारम्भ होता है। इस प्रकार तले में बैठने की स्थिति और समय अबाधाकाल समझना चाहिए।

लेकिन यह अबाधाकाल सभी कर्मों का अपनी-अपनी स्थिति के

१. अबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर जिस कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते हैं।

२. बंधे हुए कर्म का जितने समय तक आत्मा को शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता, उतने समय को अबाधाकाल कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। कभी तो यह अबाधाकाल स्वाभाविक क्रम के अनुसार व्यतीत होता है और कभी कारण-विशेष वीर्य-विशेष के संयोग से शीघ्र भी पूरा हो जाता है। अबाधाकाल के इस शीघ्र पूर्ण होने को **अपवर्तनाकरण**[1] कहते हैं।

जिस प्रकार वीर्य-विशेष से पहले बँधे हुए कर्मों की स्थिति व रस को घटाया जा सकता है, उसी प्रकार वीर्य-विशेष से कर्म अपने स्वरूप को छोड़कर अपने सजातीय स्वरूप में परिवर्तित करके भोगा जा सकता है। इस प्रकार वीर्य-विशेष से कर्म का अपनी ही दूसरी सजातीय कर्मप्रकृतिस्वरूप को प्राप्त कर लेना **संक्रमण** कहलाता है।

कर्मों की मूल प्रकृतियों का एक दूसरे में संक्रमण नहीं होता है। किन्तु मूल कर्म के उत्तरभेदों में संक्रमण होता है और नहीं भी होता है। जैसे कि ज्ञानावरणकर्म मूल कर्मप्रकृति है और मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण आदि उत्तरप्रकृतियाँ हैं। इनमें से मतिज्ञानावरणकर्म श्रुतज्ञानावरणकर्म के रूप में अथवा श्रुतज्ञानावरणकर्म मतिज्ञानावरण आदि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। क्योंकि ये प्रकृतियाँ मूल कर्म ज्ञानावरण के उत्तरभेद होने से परस्पर सजातीय हैं और ज्ञान को ही आवृत करती हैं, किन्तु आत्मा के अन्य गुणों को आवृत करने की सामर्थ्य नहीं रखती हैं। अर्थात् ज्ञानावरण का दर्शनावरण के रूप में और दर्शनावरण का ज्ञानावरणकर्म के रूप में परिवर्तन नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों कर्मों का अलग-अलग स्वभाव है और ये अलग-अलग कार्य करने की क्षमता रखते हैं और अपने स्वभाव के अनुरूप ही कार्य कर सकते हैं, किन्तु अपने मूल स्वभाव को छोड़ने की शक्ति नहीं रखते हैं। यदि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ अपने मूल

---

१. जिस वीर्यविशेष से पहले बँधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, उसको अपवर्तनाकरण कहते हैं।

स्वभाव को छोड़ दें तो उनका अस्तित्व नहीं रहेगा और संख्या भी नियत नहीं रहेगी।

यद्यपि यह तो निश्चित है कि कर्मों की मूल प्रकृतियाँ संक्रमण नहीं करती हैं; लेकिन उत्तरप्रकृतियों में भी कितनी ही ऐसी हैं, जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमण नहीं करती हैं, जैसे—दर्शनमोह और चारित्रमोह। ये दोनों मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ हैं, किन्तु दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता है। इसी तरह आयुकर्म के उत्तरभेदों के बारे में भी समझना चाहिए कि नरकायु का तिर्यंचायु के रूप में अथवा किसी अन्य आयु के रूप में संक्रमण नहीं होता है।

उदीरणा—उदयकाल प्राप्त हुए बिना ही आत्मा की सामर्थ्य-विशेष से कर्मों को उदय में लाना उदीरणा है। अर्थात् अबाधाकाल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्न-विशेष से उदयावलिका में लाकर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा कहलाता है।

सत्ता—बँधे हुए कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़कर आत्मा के साथ लगे रहना सत्ता कहलाती है।

जैसे कि मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी ये दो कर्म बँधे हों तो वे दोनों बन्ध होने के कारण अपने स्वरूप को प्राप्त हुए माने जाएँगे और जब तक दोनों अपने स्वरूप में स्थित रहेंगे, तब तक उनकी सत्ता मानी जायेगी।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म बन्ध होने के कारण सत्तारूप होने पर भी उसमें से फल देने की शक्ति कम हो जाने से उसके अर्द्ध रस वाले और नीरसप्राय—ये दो विभाग और हो जाते हैं और उन दोनों के बन्ध न होने पर भी मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता मानी

जाती है। क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों ने बिना बन्ध के ही, अपने स्वरूप को प्राप्त करने के द्वारा अपनी विद्यमानता सिद्ध कर सत्ता प्राप्त की है।

इन बन्ध आदि स्थितियों वाले समस्त कर्मों का क्षणमात्र में ही भगवान महावीर ने क्षय नहीं किया था। किन्तु क्रमशः उनके क्षय द्वारा श्रेणी-अनुश्रेणी आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास कर वे परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बने थे। यही आत्मशक्तियों के विकास का क्रम है और प्रत्येक आत्मा को इसके लिए अपने-अपने प्रयत्न करने पड़ते हैं।

जीव द्वारा अपने विकास के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की अपेक्षा से उपलब्ध स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव का स्वभाव और स्थान—उनकी तरतमता से उपलब्ध स्वरूप को गुणस्थान कहते हैं।

ये स्वरूप-विशेष ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होते हैं। गुणों की शुद्धि और अशुद्धि में तरतमभाव होने का मुख्य कारण मोहनीयकर्म का उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि हैं। जब प्रतिरोधक कर्म कम हो जाता है, तब ज्ञान-दर्शनादि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट हो जाती है, और जब प्रतिरोधक कर्म की अधिकता होती है, तब ज्ञानादि गुणों की शुद्धि कम होती है। आत्मिक गुणों के इस न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था को गुणस्थानक्रम कहते हैं।

यद्यपि शुद्धि और अशुद्धि से जन्य जीव के स्वरूप-विशेष असंख्य प्रकार के हो सकते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप में चौदह गुणस्थानों के रूप में अन्तर्भाव हो जाता है। ये गुणस्थान मोक्ष-महल को प्राप्त करने के लिए सोपान के समान हैं।

प्रत्येक गुणस्थान में कितनी-कितनी और किन-किन प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता हो सकती है, इसका वर्णन क्रमशः आगे की गाथाओं में किया जा रहा है।

गुणस्थानों के नाम

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगि गुणा ॥२॥

गाथार्थ—मिथ्यात्व, सास्वादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, निवृत्ति, अनिवृत्ति, सूक्ष्म, उपशम, क्षीण, सयोगि और अयोगि—ये गुणस्थान हैं।

विशेषार्थ—गुणस्थानों में कर्मों की बन्ध आदि अवस्थाओं को बतलाने से पहले गुणस्थानों के नामों का कथन करना जरूरी होने से इस गाथा में गुणस्थानों के नाम गिनाये हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन (सासादन)
(३) मिश्र (सम्यग्मिथ्यादृष्टि), (४) अविरत सम्यग्दृष्टि,
(५) देशविरत, (६) प्रमत्तसंयत,
(७) अप्रमत्तसंयत, (८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),
(९) अनिवृत्तिबादरसंपराय, (१०) सूक्ष्मसंपराय,
(११) उपशान्तमोह-वीतराग, (१२) क्षीणमोह-वीतराग,
(१३) सयोगिकेवली, (१४) अयोगिकेवली।

उक्त नामों में प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ लेना चाहिए; जैसे—मिथ्यात्व गुणस्थान आदि।

गुणस्थानों के नामों के क्रम में जीव के आध्यात्मिक विकास की व्यवस्थित प्रणाली के दर्शन होते हैं कि पूर्व-पूर्व के गुणस्थान की अपेक्षा

उत्तर-उत्तर के गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है। परिणामतः आगे-आगे के गुणस्थानों में अशुभप्रकृतियों की अपेक्षा शुभप्रकृतियों का बन्ध होता है और क्रम-क्रम से शुभ-प्रकतियों का भी बन्ध रुक जाने से अन्त में जीवमात्र के लिए प्राप्त करने योग्य शुद्ध, परम शुद्ध, प्रकाशमान आत्मरमणतारूप परमात्मपद प्राप्त हो जाता है।

गुणस्थानों की व्यवस्था—जगत में अनन्त जीव हैं। उनमें प्रत्येक जीव एक समान दिखाई नहीं देता है। इन्द्रिय, वेद, ज्ञानशक्ति, उपयोगशक्ति, लक्षण आदि विभागों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से शास्त्र में जीवों के भेद बतलाये हैं और जगत में वैसा दिखता भी है। परन्तु आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से जो विभाग किये गये हैं, वे इन गुणस्थानों की व्यवस्था से बराबर व्यवस्थित रूप में समझ जा सकते हैं।

सामान्यतया आध्यात्मिक दृष्टि से जगत में जीवों के दो प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्वी—मिथ्यादृष्टि, (२) सम्यक्त्वी—सम्यग्दृष्टि। अर्थात् कितने ही जीव गाढ़ अज्ञान और विपरीत बुद्धि वाले और कितने ही ज्ञानी, विवेकशील, प्रयोजनभूत लक्ष्य के मर्मज्ञ, आदर्श का अनुसरण कर जीवन व्यतीत करने वाले होते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में अज्ञानी और विपरीत बुद्धि वाले जीवों को मिथ्यात्वी कहते हैं। ऐसे जीवों का बोध कराने के लिए पहला मिथ्यात्व—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

सम्यक्त्वधारियों में भी तीन भेद हो जाते हैं—(१) सम्यक्त्व से गिरते समय स्वल्पसम्यक्त्व वाले, (२) अर्द्धसम्यक्त्व और अर्द्ध-मिथ्यात्व वाले, (३) विशुद्धसम्यक्त्व वाले किन्तु चारित्ररहित। उक्त स्थिति वालों में से स्वल्पसम्यक्त्व वाले जीवों के लिए दूसरा

नहीं होती है। अतः ऐसी श्रेणीक्रम स्थिति वाले जीव निवृत्ति (अपूर्वकरण) नामक आठवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

यद्यपि श्रेणी-आरोहण के कारण प्राप्त क्रमिक विशुद्धता के बढ़ने से जीव के कषायभावों में काफी निर्बलता आ जाती है; फिर भी उन कषायों में पुनः उद्रेक होने की शक्ति बनी रहती है। अतः ऐसे कषायपरिणाम वाले जीवों का बोध कराने के लिए आठवें के बाद नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय नामक गुणस्थान का कथन किया गया है।

नौवें गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा प्रतिसमय कषायों को कृश करने के प्रयत्न चालू रहते हैं और वैसा होने से एक समय ऐसी स्थिति आ जाती है, जब संसार की कारणभूत कषायों की एक झलक-सी दिखलाई देती है। इस स्थिति वाले जीव सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं।

जैसे झाईं मात्र अतिसूक्ष्म अस्तित्व रखने वाली वस्तु तिरोहित अथवा नष्ट हो जाती है, वैसे ही जो कषायवृत्ति अत्यन्त कृश हो गई है, उसके शान्त-उपशमित अथवा पूर्णरूप से नष्ट हो जाने से जीव को शुद्ध—निर्मल स्वभाव के दर्शन होते हैं। इस प्रकार शान्त (सत्ता में है) और नष्ट (समूल क्षय)—इन दोनों स्थितियों को बतलाने के लिए क्रमशः ग्यारहवां उपशान्तमोह-वीतराग और बारहवां क्षीणमोह-वीतराग नामक गुणस्थान है।

मोहनीयकर्म के साथ-साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से जीव ने अनन्तज्ञान, दर्शन आदि अपने निज गुणों को प्राप्त कर लिया है। लेकिन अभी शरीरादि योगों का सम्बन्ध बना रहने से योगयुक्त वीतरागी जीव सयोगिकेवली नामक तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहलाते हैं और जब शरीरादि योगों से रहित शुद्ध ज्ञान-

दर्शनयुक्त स्वरूपरमणता आत्मा में प्रकट हो जाती है तो इसका कथन अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान द्वारा किया जाता है। इस दशा को प्राप्त करना जीव का परम लक्ष्य है और संसार का नाश कर सदा के लिए शाश्वत, निर्मल, सिद्ध, बुद्ध, चैतन्य रूप में रमण करता है।

गुणस्थानों की परिभाषा

जीव के विकास की प्रारम्भिक सीढ़ी पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है और उसकी पूर्णता अयोगिकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान में होती है। अतः अब मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों का स्वरूप बतलाते हैं।

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति) मिथ्या (उल्टी, विपरीत) हो, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैसे धतूरे के बीज को खाने वाला मनुष्य सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, वैसे ही मिथ्यात्वी मनुष्य की दृष्टि भी विपरीत हो जाती है, अर्थात् कुदेव को देव, कुगुरु को गुरु और कुधर्म को धर्म समझता है। उसे आत्मा तथा अन्य, चैतन्य व जड़ का विवेकज्ञान ही नहीं होता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप-विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी कहते हैं।

प्रश्न—विपरीत दृष्टि को यदि मिथ्यादृष्टि कहते हैं तो मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि विपरीत है तो भी वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूप से जानता तथा मानता है। इसीलिए उसकी चेतना के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा

सर्वथा ढक नहीं जाती है, किन्तु कुछ-न-कुछ खुली रहती है, जिससे कि दिन-रात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा ढक नहीं जाता है, किन्तु आंशिक रूप में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है। इसके सिवाय निगोदिया जीव को भी आंशिक रूप से एक प्रकार का अव्यक्त स्पर्श मात्र उपयोग होता है। यदि यह न माना जाये तो निगोदिया जीव अजीव कहलायेगा।[1] इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान माना जाता है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि को किसी अंश में यथार्थ होना मानते हैं तो उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है?

उत्तर—यह ठीक है कि किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि यथार्थ होती है, लेकिन इतने मात्र से उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि द्वादशांग सूत्रोक्त एक अक्षर पर भी जो विश्वास नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है; जैसे—जमाली।[2] लेकिन सम्यक्त्वी जीव की यह विशेषता होती है कि उसे सर्वज्ञ के कथन पर अखण्ड विश्वास होता है और मिथ्यात्वी को नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी नहीं कहते हैं।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्या परिणामों का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला हो जाता

---

१. सव्वजीवाणं पि य अक्खरस्स अणंतभागो निच्चं उग्घाडियो चिट्ठइ। जइ पुण सोवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाउणिज्जा। —नन्दी ७५

२. पयमवि असद्दहंतो सुत्तत्थं मिच्छदिट्ठओ।
पयमक्खरंपि इक्कं जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं।
सेसं रोयंतो वि हु मिच्छदिट्ठी जमालिव्व।

है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्वी को यथार्थ धर्म भी अच्छा मालूम नहीं होता है।[1]

मिथ्यात्वप्रकृति के उदय से तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धानरूप होने वाले मिथ्यात्व के ये पाँच भेद होते हैं—(१) एकान्त, (२) विपरीत, (३) विनय, (४) संशयित, (५) अज्ञान।[2]

एकान्त मिथ्यात्व—अनेकधर्मात्मक पदार्थ को किसी एकधर्मात्मक मानना एकान्तमिथ्यात्व है; जैसे—"वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा नित्य ही है।"

विपरीतमिथ्यात्व—धर्मादिक के स्वरूप को विपर्ययरूप मानना, विपरीतमिथ्यात्व है; जैसे—"हिंसा मे स्वर्गादि की प्राप्ति होती है।"

विनयमिथ्यात्व—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव, गुरु और उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखना, विनयमिथ्यात्व है।

संशयमिथ्यात्व—समीचीन और असमीचीन—दोनों प्रकार के पदार्थों में से किसी भी एक का निश्चय न होना, संशयमिथ्यात्व कहलाता है।

अज्ञानमिथ्यात्व—जीवादि पदार्थों को—'यही है', 'इस प्रकार है'—इस तरह विशेष रूप से न समझने को अज्ञानमिथ्यात्व कहते हैं।

---

१. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड—१७

२. मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड—१५

काल की विवक्षा से मिथ्यात्व के निम्नलिखित तीन भेद होते हैं—

(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-सान्त।

इनमें से अनादि-अनन्त मिथ्यात्व अभव्य जीव को, अनादि-सान्त भव्य जीव को और सादि-सान्त उच्च गुणस्थान को पतित होकर निम्न गुणस्थान पर आने वाले जीव को होता है।

स्थानांग सूत्र में मिथ्यात्व के निम्न प्रकार से दस भेद भी बताये हैं—

(१) अधर्म में धर्म की बुद्धि, (२) धर्म में अधर्म की बुद्धि,
(३) उन्मार्ग में मार्ग की बुद्धि, (४) मार्ग में उन्मार्ग की बुद्धि,
(५) अजीव में जीव की बुद्धि, (६) जीव में अजीव की बुद्धि,
(७) असाधु में साधु की बुद्धि, (८) साधु में असाधु की बुद्धि,
(९) अमूर्त में मूर्त की बुद्धि (१०) मूर्त में अमूर्त की बुद्धि।[1]

आगम में वर्णित इन दसों भेदों के अतिरिक्त मिथ्यात्व के आभिग्राहिकादि पांच तथा लौकिकादि दस—ऐसे पन्द्रह भेद और भी मिलते हैं। वे स्वतन्त्र भेद न होकर इन्हीं दस प्रकार के मिथ्यात्वों का स्पष्टीकरण करने वाले हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) आभिग्रहिक, (२) अनाभिग्रहिक, (३) आभिनिवेशिक, (४) सांशयिक, (५) अनाभोगिक, (६) लौकिकमिथ्यात्व, (७) लोकोत्तर मिथ्यात्व, (८) कुप्रावचनिक मिथ्यात्व, (९) न्यून मिथ्यात्व, (१०) अधिक मिथ्यात्व, (११) विपरीत मिथ्यात्व, (१२) अक्रिया मिथ्यात्व,

---

१. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। —स्थानांग १०।७३४

(१३) अज्ञान मिथ्यात्व, (१४) अविनय मिथ्यात्व, (१५) आशातना मिथ्यात्व।

पूर्वोक्त दस और इन पन्द्रह भेदों को मिलाने से मिथ्यात्व के कुल पच्चीस भेद हो जाते हैं और इन सबको संक्षेप में कहा जाये तो नैसर्गिक मिथ्यात्व और परोपदेशपूर्वक मिथ्यात्व—ये दो भेद होंगे।

मिथ्यात्व गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोनअर्धपुद्गलपरावर्तन[1] है।

(२) **सास्वादन गुणस्थान**—जो औपशमिक सम्यक्त्वी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, किन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं किया है, तब तक अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है और उस जीव के स्वरूपविशेष को सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

जिस प्रकार पर्वत से गिरने पर और भूमि पर पहुँचने के पहले मध्य का जो काल है, वह न पर्वत पर ठहरने का काल है और न भूमि पर ठहरने का है, किन्तु अनुभयकाल है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय होने से सम्यक्त्व परिणामों से छूटने और मिथ्यात्व परिणामों के प्राप्त न होने पर मध्य के अनुभय काल में जो परिणाम होते हैं, उनको सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

---

१. आहारक शरीर को छोड़कर शेष औदारिकादि सात प्रकार की रूपी वर्गणाओं को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गलपरावर्तन कहलाता है। एक पुद्गलपरावर्तन पूरा होने में अनन्त कालचक्र व्यतीत हो जाते हैं। उसका आधा हिस्सा अर्धपुद्गलपरावर्तन है और उस आधे हिस्से में भी एकदेश कम को देशोनअर्धपुद्गल परावर्तन कहते हैं। (विशेष परिशिष्ट में देखिए।)

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खाकर उसका वमन करने वाले को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख हुए जीव को भी कुछ काल के लिए सम्यक्त्व गुण का आस्वादन अनुभव में आता है। अतएव इस गुणस्थान को सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति विषयक प्रक्रिया इस प्रकार है—

अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) और दर्शनमोहनीयत्रिक (सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व)—इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से आत्मा की जो तत्त्व-रुचि होती है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमें मिथ्यात्व प्रेरक कर्मपुद्गल सत्ता में रहकर भी राख में दबी हुई अग्नि की तरह कुछ समय तक उपशान्त रहते हैं। इसके दो भेद हैं—ग्रन्थिभेदजन्य और उपशमश्रेणिभावी।

ग्रन्थिभेदजन्य औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीवों को प्राप्त होता है। प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—ऐसे तीन करण (प्रयत्न-विशेष) किये जाते हैं। उनकी प्रक्रिया निम्नलिखित है—

जीव अनादि काल से संसार में घूम रहा है और तरह-तरह से दुःख उठा रहा है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी में पड़ा हुआ पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते इधर-उधर टक्कर खाता हुआ गोल और चिकना बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अनन्तकाल से दुःख सहते-सहते कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम-शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। इस परिणाम

को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण वाला जीव रागद्वेष की मजबूत गाँठ तक पहुंच जाता है किन्तु उसे भेद नहीं सकता। इसको ग्रन्थिदेशप्राप्ति कहते है। राग-द्वेष की यह गाँठ क्रमशः दृढ़ और गूढ़ रेशमी गांठ के समान दुर्भेद्य है। यथाप्रवृत्तिकरण अभव्य जीवों के भी हो सकता है। कर्मों की स्थिति कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अन्दर करके वे जीव भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसे भेद नहीं सकते।

भव्य जीव जिस परिणाम से राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़कर लांघ जाता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं। इस प्रकार का परिणाम जीव को बार-बार नहीं आता, कदाचित् ही आता है, इसलिए इसका नाम अपूर्वकरण है। यथाप्रवृत्तिकरण तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है, किन्तु अपूर्वकरण भव्य जीवों को भी अधिक बार नहीं आता।

अपूर्वकरण द्वारा राग-द्वेष की गाँठ टूटने पर जीव के परिणाम जब अधिक शुद्ध होते हैं, उस समय अनिवृत्तिकरण होता है। इस परिणाम को प्राप्त करने पर जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना नहीं लौटता है। इसीलिए इसका नाम अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाती है।

अनिवृत्तिकरण की जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बतलाई गई है, उस स्थिति का एक भाग शेष रहने पर अन्तरकरण की क्रिया शुरू होती है, अर्थात् अनिवृत्तिकरण के अन्तसमय में मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिकों को आगे-पीछे कर दिया जाता है। कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आने वाले कर्म-दलिकों के साथ कर दिया जाता है और कुछ को अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद उदय में

आने वाले कर्मदलिकों के साथ कर दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त काल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्वमोहनीय का कोई कर्मदलिक नहीं रहता। अतएव जिसका अबाधाकाल पूरा हो चुका है—ऐसे मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक विभाग वह है, जो अनिवृत्तिकरण के चरम समयपर्यन्त उदय में रहता है और दूसरा वह, जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त बीतने पर उदय में आता है। इनमें से पहले विभाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे को मिथ्यात्व की द्वितीय स्थिति कहते हैं। अन्तरकरणक्रिया के शुरू होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्त तक तो मिथ्यात्व का उदय रहता है, पीछे नहीं रहता है। क्योंकि उस समय जिन दलिकों के उदय की सम्भावना है, वे सब दलिक अन्तरकरण की क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं।

अनिवृत्तिकरण काल के बीत जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीव को स्पष्ट एवं असंदिग्ध प्रतीति होने लगती है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इसलिए जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण व्यक्त होता है। मिथ्यात्वरूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा आनन्द आता है, जैसे किसी पुराने एवं भयंकर रोगी को स्वस्थ हो जाने पर। उस समय तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा हो जाती है। औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है, क्योंकि इसके बाद मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल, जिन्हें अन्तरकरण के समय अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय आने वाला बताया है, वे उदय में आ जाते हैं या क्षयोपशम रूप में परिणत कर दिये जाते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहते हैं। उपशान्ताद्धा के पूर्व, अर्थात् अन्तरकरण के समय में जीव विशुद्ध परिणाम से द्वितीय स्थितिगत (औपशमिक सम्यक्त्व के बाद उदय में आने वाले) मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है। जिस प्रकार कोद्रवधान्य (कोदों नामक धान्य) का एक भाग ओषधियों से साफ करने पर इतना शुद्ध हो जाता है कि खाने वाले को बिलकुल नशा नहीं आता, दूसरा भाग अर्द्धशुद्ध और तीसरा भाग अशुद्ध रह जाता है, उसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्वमोहनीय के तीन पुंजों में से एक पुंज इतना शुद्ध हो जाता है कि उसमें सम्यक्त्वघातकरस (सम्यक्त्व को नाश करने की शक्ति) नहीं रहता। दूसरा पुंज आधा शुद्ध और तीसरा पुंज अशुद्ध ही रह जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व का समय पूर्ण होने पर जीव के परिणामानुसार उक्त तीन पुञ्जों में से कोई एक अवश्य उदय में आता है। परिणामों के शुद्ध रहने पर शुद्ध पुञ्ज उदय में आता है, उससे सम्यक्त्व का घात नहीं होता। उस समय प्रगट होने वाले सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जीव के परिणाम अर्द्धविशुद्ध रहने पर दूसरे पुंज का उदय होता है और जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। परिणामों के अशुद्ध होने पर अशुद्ध पुंज का उदय होता है और उस समय जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशान्ताद्धा में जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द वाला होता है। जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाएँ शेष रहने पर किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्व वाले जीव के चढ़ते परिणामों में विघ्न पड़ जाता है, अर्थात् उसकी शान्ति भंग हो जाती है। उस समय अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से जीव सम्यक्त्वपरिणाम को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। जब

तक वह मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता, अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिकाओं तक सास्वादन भाव का अनुभव करता है, उस समय जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव सास्वादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है, दूसरा नहीं।

उक्त कथन में पल्योपम—सागरोपम का प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिए।

एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाए, उसे पल्योपम कहते हैं तथा दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

सास्वादन गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका काल की है।

(३) **मिश्र गुणस्थान**—इसका पूरा नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है। किन्तु संक्षेप में समझने के लिए मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्वमोहनीय के अशुद्ध, अर्द्धशुद्ध और शुद्ध—इन तीनों पुंजों में से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से शुद्धता और मिथ्यात्व के अर्द्धशुद्ध पुद्गलों के उदय होने से अशुद्धतारूप जब अर्द्धशुद्ध पुंज का उदय होता है, तब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्यात्व (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान) कहलाता है।

इस गुणस्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है, जिससे जीव सर्वज्ञप्रणीत तत्त्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है और न एकान्त अरुचि। किन्तु नारिकेल द्वीप में उत्पन्न मनुष्य को अर्थात् जिस द्वीप में प्रधानतया नारियल पैदा होता है, वहाँ के निवासियों

ने चावल आदि अन्न न कभी देखा होता है और न सुना। इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देखकर उसके विषय में रुचि या घृणा नहीं करते; किन्तु समस्वभाव ही रहते हैं। इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञप्ररूपित मार्ग पर प्रीति या अप्रीति न करके समभाव ही रहते हैं।

जिस प्रकार दही और गुड़ को परस्पर इस तरह से मिलाने पर कि फिर दोनों को पृथक-पृथक् नहीं कर सकें, तब उसके प्रत्येक अंश का मिश्र रूप (कुछ खट्टा और कुछ मीठा—दोनों का मिला हुआ रूप) होता है। इसी प्रकार आत्मा के गुणों का घात करने वाली कर्म-प्रकृतियों में से सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का कार्य विलक्षण प्रकार का होता है। उससे केवल सम्यक्त्वरूप या केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर दोनों के मिले-जुले (मिश्र) परिणाम होते हैं। अर्थात् एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं।[1]

शंका—मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकने से यह तीसरा गुण-स्थान बन नहीं सकता। यदि विरुद्ध दो प्रकार के परिणाम एक ही आत्मा और एक ही काल में माने जायें तो शीत-उष्ण की तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आयेगा। यदि क्रम से दोनों परिणामों की उत्पत्ति मानी जाये तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मित्रामित्र न्याय से एक काल और एक ही आत्मा में मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं। जैसे कि देवदत्त नामक व्यक्ति में यज्ञदत्त की अपेक्षा मित्रपना और

---

१. दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो। —गोम्मट० जीवका० २२

धर्मदत्त की अपेक्षा अमित्रपना—ये दोनों धर्म एक ही काल में रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है। वैसे ही सर्वज्ञप्रणीत पदार्थ के स्वरूप के श्रद्धान की अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभास कथित अतत्त्व श्रद्धान की अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मा में घटित हो सकते हैं। इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं है।

मिश्र गुणस्थानवर्ती (सम्यग्मिथ्यादृष्टि) जीव परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध नहीं कर सकता है[1] और मरण भी नहीं होता है। यदि इस गुणस्थान वाला जीव मरण करता है तो सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप दोनों परिणामों में से किसी एक को प्राप्त करके ही मर सकता है। अर्थात् इस गुणस्थान को प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप परिणामों में से जिस जाति के परिणामकाल में पर-भव सम्बन्धी आयु का बन्ध किया हो तो उसी तरह के परिणाम होने पर उसका मरण होता है। इस गुणस्थान में मारणान्तिक समुद्घात भी नहीं हो सकता है।[2] इसके अतिरिक्त सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव संयम (सकल संयम और एकदेशसंयम) को ग्रहण नहीं कर सकता है।

मिथ्यात्वमोहनीय के अर्द्धविशुद्ध पुंज (सम्यग्मिथ्यात्व मिश्र) का उदय अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता है। इसके अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो जाता है। अतएव तीसरे गुणस्थान की कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउ बंधंपि न करेइ त्ति।

२. मूल शरीर को बिना छोड़े ही, आत्मा के प्रदेशों को बाहर निकलने को समुद्घात कहते हैं। उसके सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रियक, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवल। मरण से पूर्व समय में होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

(४) **अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान**—हिंसादि सावद्य व्यापारों को छोड़ देने, अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाने को विरति कहते हैं।[1] चारित्र, व्रत विरति के ही नाम हैं। जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरत-सम्यग्दृष्टि है और उसके स्वरूपविशेष को अविरतसम्यग्दृष्टि गुण-स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानवर्ती जीव को अविरतसम्यग्दृष्टि कहने और सम्यग्दर्शन के साथ संयम न होने का कारण एकदेश संयम के घातक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय है।

सम्यग्दृष्टि जीव केवली द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है। अज्ञानतावश यदि असद्भाव का भी श्रद्धान कर लेता है तो शास्त्रों द्वारा या गुरुओं के समझाये जाने पर असमीचीन श्रद्धान को छोड़कर समीचीन श्रद्धान करना प्रारम्भ कर देता है। यदि गुरु, आचार्य आदि द्वारा समझाये जाने पर भी असमीचीन श्रद्धान को न छोड़े तो मिथ्या-दृष्टि कहलाता है।

अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं—

(१) जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते है और न पालते हैं, ऐसे साधारण लोग।

(२) जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं, किन्तु पालते हैं, ऐसे अपने आप तप करने वाले बालतपस्वी।

(३) जो व्रतों को जानते नहीं हैं, किन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालन नहीं करते हैं, ऐसे ढीले—पासत्थे साधु, जो संयम लेकर निभाते नहीं हैं।

---

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्। —तत्त्वार्थसूत्र ७।१

(४) जिनको व्रतों का ज्ञान नहीं है, किन्तु उनको स्वीकार तथा पालन करते हैं, ऐसे अगीतार्थ मुनि।

(५) जिनको व्रतों का ज्ञान है, किन्तु उनको स्वीकार तथा पालन नहीं करते हैं। जैसे श्रेणिक, श्रीकृष्ण आदि।

(६) जो व्रतों को जानते हैं, स्वीकार नहीं करते, किन्तु पालन करते हैं। जैसे अनुत्तर विमानवासी देव।

(७) जो व्रतों को जानते हैं, स्वीकारते हैं, किन्तु पीछे पालन नहीं करते हैं। जैसे संविग्न पाक्षिक।

सम्यक् ज्ञान, सम्यक् ग्रहण और सम्यक् पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिनको व्रतों का सम्यक् ज्ञान नहीं, व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते, वे घुणाक्षर न्याय से व्रतों को पाल भी लें, तो भी उससे फलप्राप्ति सम्भव नहीं है।

अविरत के पूर्वोक्त सात प्रकारों में से आदि के चार प्रकार के अविरत जीवों को व्रतों का ज्ञान ही नहीं होने से वे मिथ्यादृष्टि ही हैं। क्योंकि वे यथाविधि व्रतों को ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, किन्तु उन्हें यथार्थ मानते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों में कोई औपशमिक सम्यक्त्वी, कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी और कोई क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं।

इस गुणस्थान में जन्म, मरण, आयुष्यबन्ध, परभव-गमन इत्यादि होता है।

(५) **देशविरत गुणस्थान**—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सर्वथा तो नहीं किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते हैं, वे देशविरत कहलाते हैं।

देशविरत को श्रावक भी कहते हैं। इनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुणस्थान है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव सर्वज्ञ वीतराग के कथन में श्रद्धा रखता हुआ त्रसहिंसा से विरत होता ही है, किन्तु बिना प्रयोजन के स्थावर हिंसा को भी नहीं करता है। अर्थात् त्रसहिंसा के त्याग की अपेक्षा विरत और स्थावरहिंसा की अपेक्षा अविरत होने से इस जीव को विरताविरत भी कहते हैं।

इस गुणस्थान में रहने वाले कई श्रावक एक व्रत लेते हैं, कई दो व्रत लेते हैं एवं कई तीन, चार, पाँच यावत् बारह व्रत लेते हैं तथा श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं को धारण कर आत्मा का कल्याण करते हैं। इस प्रकार अधिक-से-अधिक व्रतों को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं, जो पापकर्मों में अनुमति के सिवाय और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते हैं।

अनुमति के तीन प्रकार हैं—(१) प्रतिसेवानुमति, (२) प्रतिश्रवणानुमति, (३) संवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना प्रतिसेवानुमति है। पुत्र आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किये गये पापकर्मों को केवल सुनना और सुनकर भी उन कर्मों के करने से उनको नहीं रोकना प्रतिश्रवणानुमति है। पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पापकार्य में प्रवृत्त होने पर उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना, अर्थात् न तो पापकार्य को सुनना और सुनकर भी उसकी प्रशंसा न करना संवासानुमति है। जो श्रावक, पाप-जनक आरम्भों में किसी प्रकार से भी योग नहीं देता, केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है।

देशविरत गुणस्थान मनुष्य और तिर्यंच जीवों के ही होता है।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदि के चार गुणस्थान चारों गति—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक—के जीवों के हो सकते हैं।

इस गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त है।

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे संयत (मुनि) हैं। लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तब तक वे प्रमत्तसंयत कहलाते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव सावद्य कर्मों का यहाँ तक त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति भी नहीं सेवते हैं।

यद्यपि सकलसंयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने से इस गुणस्थान में पूर्ण संयम तो हो चुकता है, किन्तु संज्वलन आदि कषायों के उदय से संयम में मल उत्पन्न करने वाले प्रमाद के रहने से इसे प्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमाद के पन्द्रह प्रकार होते हैं[1]—

चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा, चौरकथा)।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ)।

पाँच इन्द्रियों (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र) के विषयों में आसक्ति।

निद्रा और स्नेह।

इस गुणस्थान में देशविरति की अपेक्षा गुणों—विशुद्धि का प्रकर्ष,

---

१. विकहा तहा कसाया इन्दियणिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड ३४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

और अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा विशुद्ध—गुण का अपकर्ष होता है। इस गुणस्थान में ही चतुर्दश पूर्वधारी मुनि आहारकलब्धि का प्रयोग करते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान की स्थिति जघन्य एकसमय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ कम प्रमाण है और यह तथा इससे आगे के गुणस्थान मनुष्यगति के जीवों के ही होते हैं।

(७) **अप्रमत्तसंयत गुणस्थान**—जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों को नहीं सेवते हैं, वे अप्रमत्तसंयत हैं और उनका स्वरूप-विशेष जो ज्ञानादि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के तरतमभाव से होता है, अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहलाता है। अर्थात् जिसके संज्वलन और नोकषायों का मन्द उदय होता है और व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं और ज्ञान, ध्यान, तप में लीन सकलसंयम-संयुक्त संयत (मुनि) को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है। इसलिए इस गुणस्थान से लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में वर्तमान मुनि अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान और सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में इतना ही अन्तर है कि सातवें गुणस्थान में थोड़ा-सा भी प्रमाद नहीं होता है, इसलिए व्रतों में अतिचारादिक सम्भव नहीं हैं, किन्तु छठा गुणस्थान प्रमादयुक्त होने से व्रतों में अतिचार लगने की सम्भावना है। ये दोनों गुणस्थान गति-सूचक यन्त्र की सूई की तरह अस्थिर हैं। अर्थात् कभी सातवें से छठा, कभी छठे से सातवाँ गुणस्थान क्रमशः होते रहते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की समयस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक की होती है। उसके बाद वे अप्रमत्त मुनि या

तो आठवें गुणस्थान में पहुंचकर उपशम, क्षपक श्रेणी ले लेते हैं या पुनः छठे गुणस्थान में आ जाते हैं।

(८) **निवृत्तिबादर गुणस्थान** – इसको अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं। अध्यवसाय, परिणाम, निवृत्ति – ये तीनों समानार्थवाचक शब्द हैं, जिसमें अप्रमत्त आत्मा की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण—इन तीन चौक रूपी बादर कषाय की निवृत्ति हो जाती है, उस अवस्था को निवृत्तिबादर गुणस्थान कहते हैं।

अन्तर्मुहूर्त में छठा और अन्तर्मुहूर्त में सातवां गुणस्थान होता रहता है। परन्तु इस प्रकार छठे और सातवें गुणस्थान के स्पर्श से जो संयत (मुनि) विशेष प्रकार की विशुद्धि प्राप्त करके उपशम या क्षपक श्रेणि मांड़ने वाला होता है, वह अपूर्वकरण नामक गुणस्थान में आता है। दोनों श्रेणियों का प्रारम्भ यद्यपि नौवें गुणस्थान से होता है, किन्तु उनकी आधारशिला इस गुणस्थान में रखी जाती है। आठवां गुणस्थान दोनों प्रकार की श्रेणियों की आधारशिला बनाने के लिए है और नौवें गुणस्थान में श्रेणियां प्रारम्भ होती हैं। अर्थात् आठवें गुणस्थान में उपशमन या क्षपण की योग्यता मात्र होती है। आठवें गुणस्थान के समय में जीव इन पांच वस्तुओं का विधान करता है—

(१) स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुणश्रेणि, (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबन्ध।

(१) **स्थितिघात** - कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देना अर्थात् जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

(२) **रसघात**– बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

(३) **गुणश्रेणी**—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है, अर्थात् जो कर्मदलिक अपने-अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं, उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणि कहलाती है।

स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—

उदय-समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलिका के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यातगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समयपर्यन्त आगे-आगे के समय में स्थापित किये जाने वाले दलिक पहले-पहले के समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात-गुणे ही समझने चाहिए।

(४) **गुणसंक्रमण**—पहले बंधी हुई अशुभप्रकृतियों को वर्तमान में बंध रही शुभप्रकृतियों में स्थानान्तरित कर देना, अर्थात् पहले बंधी हुई अशुभप्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभप्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना गुणसंक्रमण कहलाता है। गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम समय में अशुभप्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ-प्रकृति में संक्रमण होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात-गुण अधिक दलिकों का संक्रमण होता है, तीसरे में दूसरे की अपेक्षा असंख्यातगुण। इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है, तब तक पहले-पहले समय में संक्रमण किये गये दलिकों से आगे-आगे के समय में असंख्यातगुण अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

(५) **अपूर्व स्थितिबन्ध**—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति के कर्मों का बांधना अपूर्व स्थितिबन्ध कहलाता है।

यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं, तथापि आठवें गुणस्थान में ये अपूर्व ही होती हैं। क्योंकि पूर्व गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है। पहले के गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है। इसी प्रकार पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणि की कालमर्यादा अधिक होती है तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है, वे दलिक अल्प होते हैं और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणियोग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, किन्तु कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थानों की अपेक्षा गुणसंक्रमण बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्पस्थिति के कर्म बांधे जाते हैं कि जितनी अल्पस्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नहीं बँधते हैं।

इस प्रकार इस गुणस्थान में स्थितिघात आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस गुणस्थान को अपूर्वकरण कहते हैं।

इस आठवें गुणस्थान से आत्मा की विशिष्ट योगीरूप अवस्था शुरू होती है, अर्थात् औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल पैदा करने के लिए चारित्रमोहनीयकर्म का उपशमन या क्षय करना पड़ता है और वह करने के लिए भी तीन करण करने पड़ते हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। उनमें यथाप्रवृत्तिकरणरूप सातवां, अपूर्वकरणरूप आठवां और अनिवृत्तिकरणरूप नौवां गुणस्थान है।

जो अपूर्वकरण गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं और आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम-भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर है। क्योंकि इस गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात समय होते हैं। जिनमें से केवल प्रथम समयवर्ती तीनों कालों के जीवों के अध्यवसाय भी लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर हैं। इसी प्रकर दूसरे-तीसरे आदि समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों के बराबर ही हैं।

असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। अतः एक-एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या—ये दोनों संख्याएँ सामान्यतः एक-सी, अर्थात् असंख्यात ही हैं; फिर भी ये दोनों असंख्यात संख्याएँ परस्पर भिन्न हैं।

इस आठवें गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक जीव अनन्त और उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपस में पृथक्-पृथक् (न्यूनाधिक शुद्धि वाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत से जीवों के अध्यवसाय तुल्यशुद्धि वाले होने से अलग-अलग नहीं माने जाते हैं। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय कम शुद्धि वाले होते हैं, वे जघन्य और जो अध्यवसाय अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धि वाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहलाते हैं।

इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का होता है। इन दोनों वर्गों के बीच में असंख्यात

वर्ग हैं, जिनके सब अध्यवसाय मध्यम कहलाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्तगुणी अधिक मानी जाती है और बीच के सब वर्गों में पूर्व-पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा उत्तर वर्ग के अध्यवसाय विशेष शुद्ध माने जाते हैं।

सामान्यत: इस प्रकार समझना चाहिए कि समसमयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से—

(१) अनन्तभाग अधिक शुद्ध,
(२) असंख्यातभाग अधिक शुद्ध,
(३) संख्यातभाग अधिक शुद्ध,
(४) संख्यातगुण अधिक शुद्ध,
(५) असंख्यातगुण अधिक शुद्ध,
(६) अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते हैं।

इस प्रकार अधिक शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्तभाग अधिक शुद्धि आदि छह प्रकारों को षट्स्थान कहते हैं।[1]

इस प्रकार शुद्धिकरण के क्रम में प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से पर-पर समय के अध्यवसाय

---

१. उत्कृष्ट की अपेक्षा हीन षट्स्थानों के नाम ये हैं—

(१) अनन्तभाग हीन, (२) असंख्यातभाग हीन, (३) संख्यातभाग हीन, (४) संख्यातगुण हीन; (५) असंख्यातगुण हीन, (६) अनन्तगुण हीन।

भिन्न-भिन्न और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से उस समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध समझने चाहिए तथा पूर्व-पूर्व समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों की अपेक्षा पर-पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्तगुण विशुद्ध समझने चाहिए।

आठवें गुणस्थान का समय जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

(९) **अनिवृत्ति गुणस्थान**—इसका पूरा नाम अनिवृत्ति-बादर-संपराय गुणस्थान है। इसमें बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में होता है तथा सम-समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता ही होने, किन्तु भिन्नता न होने से इस गुणस्थान को अनिवृत्ति-बादर-संपराय गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और एक अन्तर्मुहूर्त के जितने समय होते हैं, उतने ही अध्यवसाय-स्थान इस गुणस्थान के होते हैं। क्योंकि नौवें गुणस्थान में जो जीव सम-समयवर्ती होते हैं, उन सबके अध्यवसाय एक-से अर्थात् तुल्यशुद्धि वाले होते हैं। इसी प्रकार नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक दूसरे, तीसरे आदि तुल्य समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय समान ही होते हैं और समान अध्यवसायों का एक ही अध्यवसाय-स्थान होता है। अर्थात् इस गुणस्थान का जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिए प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। अतएव यहाँ पर भिन्न समयवर्ती परिणामों में सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा सदृशता ही होती है तथा इन परिणामों द्वारा कर्मों का क्षय होता है।[1]

---

१. ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहि मिहो जेहि ॥५६॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्क परिणामा।
विमलयर झाण हुयवहसिहाहि णिद्दड्ढ कम्मवणा ॥५७॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ५६-५७

इस बात को अब विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

नौवें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं, जितने कि इस गुणस्थान के समय हैं। एक-एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियाँ शामिल हों परन्तु प्रत्येक वर्ग के सभी अध्यवसाय शुद्धि में बराबर होने से उन-उन प्रत्येक वर्ग का अध्यवसाय-स्थान एक ही है। लेकिन प्रथम समय के अध्यवसाय-स्थान से—प्रथम वर्गीय अध्यवसायों से—दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान—दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे आदि नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर-उत्तर समय के अध्यवसाय-स्थान अनन्तगुण विशुद्ध समझना चाहिए।

यद्यपि आठवें और नौवें गुणस्थानों में अध्यवसायों में विशुद्धि होती रहती है; फिर भी उन दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे कि आठवें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसाय शुद्धि के तरतमभाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं, किन्तु नौवें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग होता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं और कषायों की न्यूनता के अनुसार जीव के परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है। आठवें गुणस्थान की अपेक्षा नौवें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नताएँ आठवें गुणस्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

नौवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) उपशमक और (२) क्षपक। जो चारित्रमोहनीयकर्म का उप-

शमन करते हैं, वे उपशमक और जो चारित्रमोहनीयकर्म का क्षपण करते हैं, वे क्षपक कहलाते हैं। मोहनीयकर्म की उपशमना अथवा क्षपणा करते-करते अन्य अनेकों कर्मों का भी उपशमन या क्षपण करते हैं।

(१०) **सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में सम्पराय अर्थात् लोभकषाय के सूक्ष्म खण्डों का ही उदय होने से इसका 'सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान' ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपड़े में लालिमा (सुर्खी) सूक्ष्म—झीनी सी रह जाती है, उसी प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीव संज्वलन लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक अथवा क्षपक होते हैं। लोभ के सिवाय चारित्रमोहनीयकर्म की दूसरी ऐसी प्रकृति ही नहीं होती, जिसका उपशमन या क्षपण नहीं हुआ हो। अतः जो उपशमक होते हैं, वे लोभकषाय का मात्र उपशमन और जो क्षपक होते हैं, वे लोभकषाय का क्षपण करते हैं।

सूक्ष्म लोभ का वेदन करने वाला चाहे उपशमश्रेणी अथवा क्षपक-श्रेणी पर आरोहण करने वाला हो; यथाख्यातचारित्र से कुछ ही न्यून रहता है। अर्थात् सूक्ष्म लोभ का उदय होने से यथाख्यातचारित्र के प्रगट होने में कुछ कमी रहती है।

इस गुणस्थान की कालस्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

(११) **उपशांत-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान**—जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय नहीं है और जिनको छद्म (आवरणभूत घातीकर्म) लगे हुए हैं, वे जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-

छद्मस्थ हैं और उनके स्वरूप-विशेष को उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

शरद ऋतु में होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम इस गुणस्थान वाले जीव के होते हैं। आशय यह है कि मोहनीयकर्म की सत्ता तो है परन्तु उदय नहीं होता है।

'उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान' इस नाम में (१) उपशान्त-कषाय, (२) वीतराग, (३) छद्मस्थ—ये तीन विशेषण[1] हैं। उनमें से 'छद्मस्थ' यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है। क्योंकि उसके अभाव में भी 'उपशान्त-कषाय-वीतराग गुणस्थान' इतने नाम से ग्यारहवें गुणस्थान का बोध हो जाता है और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता है। अतः 'छद्मस्थ' यह विशेषण अपने विशेष्य के स्वरूप का बोध कराने वाला है।

'उपशान्त-कषाय' और 'वीतराग' ये दो व्यावर्तक-विशेषण हैं। इन दोनों के रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है और इनके न रहने पर इष्ट अर्थ का बोध न होकर अन्य अर्थ का भी बोध हो जाता है। जैसे 'उपशान्त-कषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान' इतने नाम से इष्ट अर्थ (ग्यारहवें गुणस्थान) के सिवाय बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्योंकि बारहवें

---

१. विशेषण दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूपविशेषण, (२) व्यावर्तक-विशेषण। स्वरूप-विशेषण—जिसके न रहने पर भी शेष भाग से इष्ट अर्थ का बोध होता है। अर्थात् यह विशेषण अपने विशेष्य के स्वरूप मात्र को जताता है। व्यावर्तक-विशेषण—जिसके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है। उसके अभाव में इष्ट के सिवाय दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।

गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण आदि घातीकर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु उपशान्त-कषाय इस विशेषण से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते हैं, अपितु क्षय हो जाते हैं। इसी तरह 'वीतराग' इस विशेषण के अभाव में उपशान्त-कषाय-छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों में भी जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो सकने के कारण चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। परन्तु वीतराग इस विशेषण के रहने से चतुर्थ, पंचम आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में वर्तमान जीव के राग (माया तथा लोभ) के उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव वीतरागत्व असम्भव है।

ग्यारहवें गुणस्थान में विद्यमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है; क्योंकि आगे के गुणस्थान वही पा सकता है, जो क्षपकश्रेणी को करता है और क्षपकश्रेणी के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो नियम से उपशमश्रेणी को करने वाला ही होता है। अतएव वह जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है।

इस गुणस्थान का समय पूरा न होने पर जो जीव भव (आयु) के क्षय से गिरता है तो वह अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और उस समय उस स्थान पर पाँचवाँ आदि-आदि अन्य गुण-स्थान सम्भव न होने से चौथे (अविरतसम्यग्दृष्टि) गुणस्थान को प्राप्त करता है और चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुण-स्थान में उन सब प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है, जितनी कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा की सम्भावना

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उस गुणस्थान में है। परन्तु आयु के शेष रहते हुए गुणस्थान का समय पूरा हो जाने पर जो जीव गिरता है, वह पतन के समय आरोहण क्रम के अनुसार गुणस्थानों को प्राप्त करता और उस-उस गुणस्थान के योग्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा करना प्रारम्भ कर देता है, अर्थात् आरोहण के समय आरोहण-क्रम के अनुसार जिस-जिस गुणस्थान को पाकर जिन-जिन कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा का विच्छेद करता है, उसी प्रकार पतन के समय भी उस-उस गुणस्थान को पाकर वह जीव उन-उन कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा को प्रारम्भ कर देता है और गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरने वाला कोई जीव छठे गुणस्थान को, कोई पाँचवें गुणस्थान को, कोई चौथे गुणस्थान को और कोई दूसरे गुणस्थान में होकर पहले तक आ जाता है।

उपशमश्रेणी[1] के प्रारम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—

चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबन्धी क्रोधादि चारों कषायों का उपशमन करता है। अनन्तर अन्तर्मुहूर्त में दर्शनमोहनीयत्रिक (सम्यक्त्व, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व, मिथ्यात्व) का एक साथ उपशमन करता है। इसके

---

१. कर्मग्रन्थकर्ता के अभिप्रायानुसार एक जन्म में दो से अधिक बार उपशमश्रेणी नहीं की जा सकती है और क्षपकश्रेणी एक ही बार होती है। जिसने एक बार उपशमश्रेणी की है, वह उस जन्म में क्षपकश्रेणी कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परन्तु जो दो बार उपशमश्रेणी कर चुका है, वह उसी जन्म में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकता है। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणी कर सकता है। इसलिए जिसने एक बार उपशमश्रेणी की है, वह पुनः उसी जन्म में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकता है।

बाद वह जीव छठे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता रहता है। बाद में आठवें गुणस्थान में होकर नौवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहाँ चारित्रमोहनीयकर्म की शेष प्रकृतियों का उपशम प्रारम्भ करता है, जो इस प्रकार है—सबसे पहले नपुंसकवेद और उसके बाद क्रमशः स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क (हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा), पुरुषवेद, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोधयुगल, संज्वलनक्रोध, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मायायुगल, संज्वलन माया, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभयुगल को तथा दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ को उपशान्त करता है।

ग्यारहवें गुणस्थान की कालमर्यादा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

(१२) **क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान**—मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् ही यह गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के भाव स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल होते हैं। क्योंकि यहाँ मोहनीयकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है, उसकी सत्ता भी नहीं रहती है।

जो मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं, किन्तु शेष छद्म (घातीकर्म का आवरण) अभी विद्यमान हैं, उनको क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ कहते हैं और उनके स्वरूपविशेष को क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान कहते हैं।

इस बारहवें गुणस्थान के नाम में—(१) क्षीण-कषाय, (२) वीतराग और (३) छद्मस्थ—ये तीनों व्यावर्तकविशेषण हैं। क्योंकि 'क्षीणकषाय' इस विशेषण के अभाव में 'वीतराग छद्मस्थ' इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के सिवाय ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है और क्षीणकषाय इस विशेषण को जोड़ लेने से बारहवें गुणस्थान

का ही बोध होता है। क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्तमात्र होते हैं। 'वीतराग' इस विशेषण से रहित क्षीण-कषाय-छद्मस्थ गुणस्थान इतने नाम से बारहवें गुणस्थान के सिवाय चतुर्थ आदि गुणस्थान का भी बोध हो जाता है। क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धी आदि कषायों का क्षय हो सकता है। लेकिन वीतराग इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ आदि गुणस्थानों का बोध नहीं होता है। क्योंकि किसी-न-किसी अंश में राग का उदय उन गुणस्थानों में रहता है जिससे वीतरागत्व असम्भव है। इसी प्रकार 'छद्मस्थ' इस विशेषण के न रहने से भी क्षीण-कषाय-वीतराग इतना नाम बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु छद्मस्थ इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान जीव के छद्म (घातीकर्म का आवरण) नहीं होता है।

इस प्रकार 'क्षीण-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ' कहने से बारहवें गुणस्थान की यथार्थ स्थिति का ज्ञान होता है और सम्बन्धित अन्य आशंकाओं का निराकरण हो जाता है।

बारहवाँ गुणस्थान प्राप्त करने के लिए मोहनीयकर्म का क्षय होना जरूरी है और क्षय करने के लिए क्षपकश्रेणी की जाती है। अतः यहाँ संक्षेप में क्षपकश्रेणी का क्रम बतलाते हैं—

क्षपकश्रेणी को करने वाला जीव चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धी-कषायचतुष्क[1] और दर्शनमोहत्रिक[2] इन सात प्रकृतियों का क्षय करता है। इसके

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्ता० मान, अनन्ता० माया, अनन्ता० लोभ।

२. दर्शनमोहनीय के तीन भेद—सम्यक्त्वमोहनीय, सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमोहनीय (मिश्र मोहनीय), मिथ्यात्वमोहनीय।

अनन्तर आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क[1] और प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क[2]—इन आठ कर्मप्रकृतियों के क्षय को प्रारम्भ करता है। ये आठ प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से क्षय नहीं हो पातीं कि बीच में ही नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में स्त्यानर्द्धित्रिक[3] नरकद्विक[4], तिर्यग्द्विक[5], जातिचतुष्क[6] और आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। इसके अनन्तर अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का क्षय होने से शेष रहा हुआ भाग क्षय करता है और नौवें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादिषट्क, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया का क्षय करता है। अन्त में दसवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का भी क्षय कर देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का क्षय होने पर बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

बारहवें गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और इस गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपकश्रेणी वाले ही होते हैं।

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान—जो चार घातीकर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय करके केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर चुके हैं, जो पदार्थ के जानने-देखने में इन्द्रिय, आलोक

---

१. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।
२. प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ।
३. निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।
४. नरकगति, नरक-आनुपूर्वी।
५. तिर्यंचगति, तिर्यंच-आनुपूर्वी।
६. एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति।

आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं और योग (आत्म-वीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम) से सहित हैं, उन्हें सयोगिकेवली कहते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं। सयोगिकेवली को घाती-कर्मों से रहित होने के कारण जिन, जिनेन्द्र, जिनेश्वर भी कहा जाता है।[1]

मन, वचन और काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है। अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं— (१) मनोयोग, (२) वचनयोग, (३) काययोग। केवली भगवान मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करते हैं। जिस समय कोई मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तरविमानवासी देव भगवान से शब्द द्वारा न पूछकर मन द्वारा प्रश्न आदि पूछता है, तब केवलज्ञानी उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्नकर्ता मनःपर्ययज्ञानी अथवा अनुत्तरविमानवासी देव केवली भगवान द्वारा उत्तर देने के लिए संगठित किये गये मनोद्रव्यों को अपने मनःपर्ययज्ञान अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष कर लेता है और तदनुसार मनोद्रव्यों की रचना के आधार से अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। उपदेश देने के लिए केवली भगवान वचनयोग का तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं में काययोग का उपयोग करते हैं।

सयोगिकेवली में यदि कोई तीर्थंकर हों तो वे तीर्थ की स्थापना करते हैं और देशना देकर तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

इस गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व वर्ष तक का है।

---

१. असहाय णाणदंसण सहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ६४

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, वे अयोगिकेवली कहलाते हैं, अर्थात् जब सयोगिकेवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर योगरहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगिकेवली कहलाते हैं और उनके स्वरूप-विशेष को अयोगिकेवली गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में मोक्ष प्राप्त करने की प्रक्रिया आरम्भ होती है, अर्थात् यह गुणस्थान मोक्ष का प्रवेश द्वार है। तीनों योगों का निरोध करने से अयोगि अवस्था प्राप्त होती है। केवली भगवान सयोगि अवस्था में अपनी आयु के अनुसार रहते हैं। परन्तु जिन केवली भगवान के चार अघाती कर्मों में से आयुकर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं (प्रदेशों) की अपेक्षा वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु अधिक होते हैं, वे समुद्घात[1] करते हैं और इसके द्वारा वे आयुकर्म की स्थिति एवं पुद्गल परमाणुओं के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति व पुद्गल परमाणुओं को कर लेते हैं।

---

१. यह समुद्घात केवली भगवान द्वारा होने से केवलीसमुद्घात कहलाता है।

इस समुद्घात में आठ समय लगते हैं। पहले समय में केवली के आत्मप्रदेश दण्ड के आकार के बनते हैं। यह दण्ड मोटा तो अपने शरीर जितना एवं लम्बा लोकपर्यन्त चौदह राजू का होता है। दूसरे समय में वह दण्ड पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण लोकपर्यन्त फैलकर कपाट का रूप लेता है। तीसरे समय में वह कपाट उत्तर-दक्षिण या पूर्व-पश्चिम में फैलकर मथानी के तुल्य बनता है। ऐसा होने से लोक का अधिकांश भाग केवली के आत्मप्रदेशों से व्याप्त हो जाता है, फिर भी मथानी की आकृति होने से आकाश के कुछ अन्तराल प्रदेश खाली रह जाते हैं, अतः चौथे समय में प्रतरस्थिति द्वारा उन खाली रहे हुए सब आकाश-प्रदेशों पर केवली के आत्मप्रदेश पहुँच जाते हैं। उस समय सम्पूर्ण

यद्यपि मोहनीय आदि चार घातीकर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होते हैं, फिर भी उस समय वेदनीय आदि चार अघातीकर्म शेष रहते हैं, जिससे मोक्ष नहीं होता है। अतः शेष रहे हुए इन कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। जब इन कर्मों का भी क्षय होता है, तभी सम्पूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-मरण का चक्कर बन्द पड़ जाता है और यही मोक्ष है। लेकिन अघाती-कर्मों में आयुकर्म की स्थिति कम हो और शेष तीन—वेदनीय, नाम और गोत्र—अघातीकर्मों की स्थिति आदि अधिक हो तो उनका आयुकर्म के साथ ही क्षय होना संभव नहीं होता है। इसीलिए आयु-कर्म की स्थिति आदि के साथ ही उन कर्मों की स्थिति आदि के क्षय

लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर केवली के आत्मप्रदेश होते हैं एवं उनकी आत्मा समस्त लोक में व्याप्त हो जाती है, क्योंकि एक जीव के असंख्य प्रदेश और लोकाकाश के असंख्य प्रदेश बराबर हैं।

इस क्रिया के बाद वापस आत्मप्रदेशों का संकोच होने लगता है। जैसे पांचवें समय के अन्तराल प्रदेश खाली होकर पुनः मथानी बन जाती है, छठे समय कपाट बन जाता है, सातवें समय दण्ड बन जाता है, एवं आठवें समय में केवली भगवान की आत्मा अपने मूल रूप में आ जाती है।

यह समुद्घात की क्रिया स्वाभाविक होती है। इसमें काल आठ समय मात्र लगता है। इस समुद्घात की क्रिया से आयुष्य कर्म की स्थिति से अधिक स्थिति वाले अघाती कर्मों की निर्जरा हो जाती है। फिर वे केवली अन्तर्मुहूर्त के अन्दर मोक्ष चले जाते हैं।

इस समुद्घात की क्रिया में मन, वचन के योगों की प्रवृत्ति नहीं होती, केवल काययोग होता है। उसमें भी पहले-आठवें समय में औदारिक काययोग, दूसरे, छठे, सातवें समय में औदारिकमिश्र काययोग एवं तीसरे, चौथे, पांचवें समय में कार्मण काययोग होता है। केवलीसमुद्घात सामान्य केवलियों के ही होता है; लेकिन तीर्थंकरों के नहीं होता है।

करने के लिए केवली भगवान द्वारा समुद्घात किया जाना अपरिहार्य होता है। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि तीनों अघाती कर्मों की स्थिति और पुद्गल परमाणु आयुकर्म के बराबर हैं, वे समुद्घात नहीं करते हैं।

सभी केवलज्ञानी सयोगि अवस्था के अन्त में परम निर्जरा के कारणभूत तथा लेश्या से रहित अत्यन्त स्थिरता रूप ध्यान के लिए योगों का निरोध करते हैं। योगनिरोध का क्रम इस प्रकार है—

सर्वप्रथम बादर (स्थूल) काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं, अनन्तर सूक्ष्म काययोग से उस बादर काययोग को रोकते हैं और उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान[1] के बल से केवली भगवान सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस प्रकार योगों का निरोध हो जाने से सयोगि केवली भगवान् अयोगि बन जाते हैं। साथ ही उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग—मुख, उदर आदि भाग को आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं।

उनके आत्मप्रदेश इतने संकुचित—घने हो जाते हैं कि वे शरीर के दो-तिहाई (२/३) हिस्से में समा जाते हैं। इसके बाद वे केवली भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान[2] को प्राप्त करते हैं

१. जब सर्वज्ञ भगवान योगनिरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म काययोग के आश्रय से दूसरे बाकी के योगों को रोक देते हैं, तब वह सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान कहलाता है। क्योंकि उसमें श्वास-उच्छ्वास के समान सूक्ष्म क्रिया ही बाकी रह जाती है और उसमें से पतन-परिवर्तन होना भी सम्भव नहीं है।

२. इस ध्यान में शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं। क्योंकि इसमें

और पाँच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण करने जितने समय का शैलेशीकरण[1] करने के द्वारा चारों अघातीकर्मों (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) का सर्वथा क्षय कर देते हैं और उन कर्मों का क्षय होते ही वे एक समय मात्र की ऋजुगति से ऊपर की ओर सिद्धि क्षेत्र में चले जाते हैं।

जिस प्रकार मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा लेपों के हट जाने पर अपने स्वभावानुसार जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है और जल की ऊपरी सतह पर स्थिर हो जाता है उसी प्रकार कर्ममल के हट जाने से शुद्ध आत्मा भी ऊर्ध्वगति करने का स्वभाव होने से ऊपर लोक के अग्रभाग तक गति करके वहाँ स्थित हो जाता है।

शुद्ध आत्मा के लोक के अग्रभाग में स्थित होने का कारण यह है कि लोक[2] के अन्त से आगे गति-सहायक कारण धर्मास्तिकाय का अभाव है। इसलिए मुक्त जीव ऊपर लोकान्त तक ही गति करते हैं।

स्थूल और सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया भी नहीं होती और वह स्थिति बाद में जाती नहीं है। इस ध्यान के प्रभाव से सब आस्रव और बन्ध का निरोध होकर सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है।

१. शैलेशो मेरुः तस्येयम् स्थिरतावस्था साम्यात् शैलेशी। यद्वा, सर्वसंवरशीलेश, आत्मा तस्येयं योगनिरोधावस्था शैलेशी, तस्यां करणं वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मत्रयस्यासंख्येय गुणया श्रेण्या निर्जरणं शैलेशीकरणम्।

—मेरु पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्वसंवर रूप योगनिरोध अवस्था को शैलेशी कहते हैं। उस अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीनों कर्मों की असंख्यात गुण श्रेणी से आयुकर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना शैलेशीकरण कहलाता है।

२. आकाश में जितने क्षेत्र में जीव, पुद्गल, धर्म आदि षड्द्रव्यों की स्थिति

ये लोक के अग्रभाग में विराजमान परमात्मा सिद्ध भगवन्त ज्ञानावरणादि द्रव्य और भावकर्मों से रहित, अनन्तसुखरूपी अमृत का अनुभव कराने वाली शान्ति सहित, नवीन कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन आदि मैल से रहित, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों सहित, नित्य और कृत-कृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है) हैं।

कर्मबन्ध के कारण जीव जन्ममरणरूप संसार में परिभ्रमण करता है। कर्मबन्ध और उसके हेतुओं के अभाव एवं निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है और कर्मबन्ध का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है। संसारी जीवों के नवीन कर्मों का बन्ध और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होते रहने का क्रम चलता रहता है। जिससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती है। लेकिन कर्मों की निर्जरा के साथ-साथ कर्मबन्ध एवं उसके हेतुओं का भी अभाव होते जाने से जीव आत्मोपलब्धि की ओर बढ़ते हुए अनन्तज्ञान-दर्शन आदि रूप आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

कर्मों की निर्जरा सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्रारम्भ होकर सर्वज्ञ अवस्था में पूर्ण होती है। इससे क्रमशः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर परिणामों में विशुद्धि सविशेष बढ़ती जाती है। परिणामों में विशुद्धि जितनी अधिक होगी उतनी कर्मनिर्जरा भी विशेष होगी। अर्थात् पूर्व-पूर्व की अवस्थाओं में जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा

है उसे लोक और जहाँ आकाश के सिवाय जीवादि द्रव्यों की स्थिति नहीं है, उसे अलोक कहते हैं। यही विभिन्नता लोक और अलोक के स्वरूप का भेद कराने में कारण है। इसीलिए धर्मास्तिकाय लोक में विद्यमान है, उसके बाहर विद्यमान नहीं है। यदि लोक के बाहर धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों की स्थिति मानी जाये तो लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद ही समाप्त हो जायेगा।

आगे-आगे की अवस्थाओं में परिणामों की विशुद्धि अधिक-अधिक होने से कर्मनिर्जरा असंख्यातगुणी बढ़ती जाती है और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ अवस्था में निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है।

कर्मनिर्जरा के प्रस्तुत तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि को और सबसे अधिक सर्वज्ञ को होती है। कर्मनिर्जरा के बढ़ते क्रम की अवस्थाओं के नाम इस प्रकार हैं—

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धीवियोजक, दर्शनमोह-क्षपक, मोहोपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन। अनुक्रम से ये अवस्थाएं असंख्येयगुण निर्जरा वाली हैं।[1] लेकिन पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय कम लगता है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि को कर्म-निर्जरा में जितना समय लगता है, उसकी अपेक्षा श्रावक को कर्म-निर्जरा में संख्यातगुण कम लगता है। इसी प्रकार विरत आदि में आगे-आगे के लिए समझना चाहिए।

उक्त चौदह गुणस्थानों में से १, ४, ५, ६, १३ ये पांच गुणस्थान लोक में शाश्वत हैं, अर्थात् सदा रहते हैं, और शेष नौ गुणस्थान अशाश्वत हैं। परभव में जाते समय जीव का पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान रहते हैं। ३, १२, १३ ये तीन गुणस्थान अमर हैं,

---

१. (क) सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।

तत्त्वार्थसूत्र ९-४७

(ख) सम्मत्तुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगे य उवसंते॥
खवगे य खीणमोहे जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तव्विवरीया काला संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, ६६-६७

अर्थात् इनमें जीव का मरण नहीं होता है। १, २, ३, ५, और ११ ये पाँच गुणस्थान तीर्थंकर नहीं फरसते हैं। ४, ५, ६, ७, ८ इन पाँच गुणस्थानों में ही जीव तीर्थंकर गोत्र बाँधता है। १२, १३ और १४ ये तीन गुणस्थान अप्रतिपाती हैं, अर्थात् आने के बाद नहीं जाते हैं। १, ४, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४ इन नौ गुणस्थानों को मोक्ष जाने से पहले जीव अवश्य फरसता है।[1]

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में गुणस्थानों का स्वरूप कहा है। विस्तार से समझने के लिए अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करना चाहिये।

प्रत्येक गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता की स्थिति का वर्णन करने के पूर्व अब मंगलाचरण में किये गये संकेतानुसार सर्वप्रथम बन्ध का लक्षण और प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियों का वर्णन करते हैं।

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं ।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सत्तर-सयं ॥३॥

गाथार्थ—नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्य से अर्थात् किसी खास गुणस्थान अथवा किसी जीव विशेष की विवक्षा किये बिना १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। उनमें से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध होता है।

विशेषार्थ—अभिनव—नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। जिस आकाश-क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहने वाले कर्मरूप से परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्गल स्कन्धों की वर्ग-

---

१. प्रवचन० द्वार २२४, गा० १३०२। प्रवचन० द्वार ८९-९०, गाथा ६९४-७०८ तथा चौदह गुणस्थान का थोकड़ा।

णाओं को कर्मरूप से परिणत कर जीव द्वारा ग्रहण करने को अभिनव—नवीन कर्मग्रहण कहते हैं और इस नवीन कर्मग्रहण का नाम बन्ध है।

बन्ध हो जाने के बाद के सम्बन्ध को बन्ध नहीं कहा जाता है। क्योंकि उसका सत्ता[1] में समावेश हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं, तब उस स्वभावान्तर-प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिए, बन्ध नहीं। इसी अभिप्राय से कर्मग्रहण मात्र को बन्ध न कहकर गाथा में अभिनव कर्मग्रहण को बन्ध का लक्षण बताया है। अर्थात् बन्ध के लक्षण में दिये गये 'अभिनव' विशेषण का यह आशय है कि नवीन कर्मों के बँधने को बन्ध कहते हैं। किन्तु सत्तारूप में विद्यमान और स्वभावान्तर में संक्रमित कर्मों को बन्ध नहीं कहते हैं।

जीव के ज्ञान-दर्शनादि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्मपुद्‌गलों का कर्मरूप बनना कहलाता है। कर्मयोग्य पुद्‌गलों का कर्मरूप से परिणमन मिथ्यात्वादि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप हैं, और इससे वे कार्मणपुद्‌गलों को कर्मरूप बनने में निमित्त होते हैं।

मिथ्यात्वादि जिन वैभाविक भावों से कार्मणपुद्‌गल कर्मरूप हो जाते हैं, उन वैभाविक भावों को भावकर्म और कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्‌गलों को द्रव्यकर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पराश्रय सम्बन्ध है। पहले ग्रहण किये हुए द्रव्यकर्मों के अनुसार भावकर्म और

---

१. सत्ता कम्माणठिई बंधाइ लद्ध अत्तलाभाणं ।

भावकर्म के अनुसार फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता रहता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध, ऐसी कार्यकारणभाव की अनादि परम्परा चली आ रही है।

किसी खास गुणस्थान और किसी खास जीव की विवक्षा किये बिना बन्धयोग्य कर्मप्रकृतियां १२० मानी जाती हैं। इसलिए १२० कर्मप्रकृतियों के बन्ध को सामान्यबन्ध या ओघबन्ध कहते हैं।

यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्म-पुद्गलों को १२० रूप में परिणमित नहीं कर सकता है। अर्थात् १२० कर्मप्रकृतियों को नहीं बांध सकता है। परन्तु अनेक जीव एक समय में १२० कर्मप्रकृतियों को बांध सकते हैं। इसी तरह एक जीव भी जुदी-जुदी अवस्थाओं में पृथक्-पृथक् समय सब मिलाकर १२० कर्मप्रकृतियों को बांध सकता है। क्योंकि जीव के मिथ्यात्वादि परिणामों के अनुसार कार्मणपुद्गल १२० प्रकार में परिणत हो सकते हैं। इसी से १२० कर्म-प्रकृतियां बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

बन्धयोग्य १२० कर्मप्रकृतियों के मूल कर्मों के नाम और उनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण के ५ भेद
(२) दर्शनावरण के ९ भेद
(३) वेदनीय के २ भेद
(४) मोहनीय के २६ भेद
(५) आयु के ४ भेद
(६) नाम के ६७ भेद
(७) गोत्र के २ भेद
(८) अन्तराय के ५ भेद

इन सब ज्ञानावरणादि कर्मों के क्रमशः ५+९+२+२६+४+६७

+२+५ भेदों के मिलने से १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी गई हैं।[1]

यद्यपि नामकर्म की विस्तार से ६३ या १०३ प्रकृतियाँ होती है। लेकिन यहाँ बन्धयोग्य प्रकृतियों में ६७ प्रकृतियाँ बताने का कारण यह है कि शरीर नामकर्म में बन्धन और संघातन ये दोनों अविनाभावी हैं। अर्थात् शरीर के बिना ये दोनों हो नहीं सकते हैं। अतः बन्ध या उदयावस्था में शरीर नामकर्म से बन्धन और संघातन नामकर्म जुदे नहीं गिने जाते और शरीर नामप्रकृति में समाविष्ट हो जाने से तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इन चार भेदों में भी अभेद विवक्षा से इनके बीस भेद शामिल होने से बन्ध और उदय अवस्था में चार भेद लिये

---

१. पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बन्धपयडीओ॥

—गो० कर्मकाण्ड ३५

अभेदविवक्षा से उक्त १२० कर्मप्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। लेकिन भेद-विवक्षा (भेद से कहने की इच्छा) से १४६ कर्मप्रकृतियाँ बंन्धयोग्य होंगी। क्योंकि दर्शनमोह की सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व—इन तीन भेदों में से मूल मिथ्यात्व प्रकृति ही बन्धयोग्य मानी जाती है। इसका कारण यह है कि बँधी हुई मिथ्यात्व प्रकृति को ही जीव अपने परिणामों द्वारा अशुद्ध, अर्धशुद्ध और विशुद्ध—इन तीन भागों में विभाजित करता है। जिससे मिथ्यात्व के ही तीन भेद हो जाते हैं। उनमें से विशुद्ध कर्मपुद्गलों को सम्यक्त्वमोहनीय और अर्धशुद्ध कर्मपुदगलों को सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। इसलिए मोहनीयकर्म के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों को बन्धयोग्य प्रकृतियों में ग्रहण न करने से १४६ प्रकृतियाँ भेद-विवक्षा से बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

प्रथम कर्मग्रन्थ में सामान्य से बन्ध, उदय आदि योग्य आठों कर्मों की प्रकृतियों के नाम बताये हैं। अतः यहाँ पुनः नाम नहीं दिये गये हैं।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जाने पर नामकर्म के ६७ भेद बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या में गिनाये गये हैं।[1]

सामान्य से बन्धयोग्य पूर्वोक्त १२० कर्मप्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक—आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग—इन तीन कर्मप्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों के बन्ध नहीं होता है। अर्थात् ये तीन कर्मप्रकृतियाँ मिथ्यात्व गुणस्थान में अबन्ध[2] योग्य हैं। इसका कारण यह है कि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व से और आहारकद्विक का बन्ध अप्रमत्तसंयम से होता है।[3] परन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व होना सम्भव है और न अप्रमत्तसंयम होना सम्भव है। क्योंकि चौथे गुणस्थान—अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता और सातवें गुणस्थान—अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—से पहले अप्रमत्त संयम भी नहीं होता है। अतः मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—इन बन्ध के कारणों के विद्यमान रहने से उक्त तीन प्रकृतियों के बिना शेष ११७ कर्मप्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध कर सकते हैं। अतएव मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियाँ ११७ और अबन्ध योग्य ३ प्रकृतियाँ हैं।

अब आगे की गाथा में मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धविच्छेद[4] योग्य

---

१. देहे अविणाभावी बन्धणसंघाद इदि अबन्धुदया।
वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बन्धुदये॥ —गो० कर्मकाण्ड ३४

२. **अबन्ध**—उस गुणस्थान में वह कर्म न बँधे, किन्तु आगे के गुणस्थान में उस कर्म का बन्ध हो, उसे अबन्ध कहते हैं।

३. सम्मेव तित्थबन्धो आहारदुगं पमादरहिदेसु। —गो० कर्मकाण्ड ९२

४. **बन्धविच्छेद**—आगे के किसी भी गुणस्थान में बन्ध नहीं होने को बन्धविच्छेद कहते हैं। छेद, क्षय, अन्त, भेद आदि समानार्थक शब्द हैं।

कर्मप्रकृतियों की संख्या और नाम एवं दूसरे गुणस्थान में बन्धप्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ।।४।।

गाथार्थ—नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुंड-संस्थान, आतपनाम, सेवार्तसंहनन, नपुंसकवेद और मिथ्यात्वमोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में बन्ध-विच्छेद होने से सासादन गुणस्थान में १०१ कर्मप्रकृतियां बन्ध-योग्य हैं। उक्त १०१ प्रकृतियों में से तिर्यचत्रिक, स्त्यानर्द्धि-त्रिक दुर्भगत्रिक और इनके सिवाय अन्य १६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद सासादन गुणस्थान के अन्त में होता है। जिनके नाम आगे की गाथा में गिनाये जायेंगे।

विशेषार्थ—इस गाथा में मुख्य रूप से दूसरे—सासादन गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में बन्धविच्छेद को प्राप्त होने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम बताये गये हैं। इन सोलह प्रकृतियों में से कुछ एक प्रकृतियों के पूरे नाम नहीं लिखकर नरकत्रिक, जातिचतुष्क आदि संज्ञाओं द्वारा संकेत किया गया है। जिनके द्वारा निम्नलिखित प्रकृतियों को ग्रहण किया गया है—

नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।

जातिचतुष्क—एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रिय जाति।

स्थावरचतुष्क—स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम।

उक्त नरकत्रिक आदि संज्ञाओं द्वारा बताई गई प्रकृतियों के साथ पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त में बन्धविच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम ये हैं—

(१) नरकगति,	(२) नरकानुपूर्वी,
(३) नरकायु,	(४) एकेन्द्रियजाति,
(५) द्वीन्द्रियजाति,	(६) त्रीन्द्रियजाति,
(७) चतुरिन्द्रियजाति,	(८) स्थावरनाम,
(९) सूक्ष्मनाम,	(१०) अपर्याप्तनाम,
(११) साधारणनाम,	(१२) हुंडसंस्थान,
(१३) आतपनाम,	(१४) सेवार्तसंहनन,
(१५) नपुंसकवेद,	(१६) मिथ्यात्वमोहनीय।[1]

गुणस्थानों में कर्मबन्ध के कारणों के बारे में यह समझ लेना चाहिए कि कर्मबन्ध के जो मिथ्यात्वादि कारण बताये गये हैं, उनमें से जिस-जिस गुणस्थान तक जिनका उदय रहता है तो उनके निमित्त से बँधने वाली कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उस गुणस्थान तक होता रहता है।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का उदय पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, दूसरे गुणस्थान में नहीं। अतएव मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से अत्यन्त अशुभ रूप और प्रायः नारक जीवों, एकेन्द्रिय जीवों तथा विकलेन्द्रिय जीवों के योग्य नरकत्रिक से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय पर्यन्त गाथा में दिखाई गई सोलह

---

१. तुलना कीजिए—
मिच्छत्त हुंडसंढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं।
सुहुमतियं वियलिंदिय णिरयदुणिरयाउगं मिच्छे॥ —गो० कर्मकाण्ड ९५

प्रकृतियों का बन्ध पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक, जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का उदय है, हो सकता है, दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसलिए पहले गुणस्थान में जिन ११७ कर्म प्रकृतियों का बन्ध माना गया है, उनमें से नरकत्रिक आदि उक्त सोलह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०१ कर्मप्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में होता है।

गाथा में 'तिरिथीणदुहगतिगं' पद में गिनाई गई प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद दूसरे गुणस्थान में होता है। इनके अतिरिक्त दूसरे गुणस्थान में अन्य बन्धव्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम एवं तीसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आगे की गाथा में बतलाते हैं।

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअबन्धा ॥५॥

गाथार्थ—अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मध्यमसंस्थानचतुष्क, मध्यम-संहननचतुष्क, नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभविहायोगतिनाम और स्त्रीवेद इन २५ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्त में होता है तथा आयुद्विक अबन्ध होने से मिश्र गुणस्थान (सम्यग्मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान) में ७४ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ तथा उसके अन्त समय में व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियाँ हैं। इन व्युच्छिन्न होने वाली २५ प्रकृतियों के नामों के लिए पूर्व गाथा में 'तिरिथीण दुहगतिगं' पद से तिर्यंचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक और दुर्भगत्रिक इन नौ प्रकृतियों के नाम तथा इस गाथा में अनन्तानुबन्धीचतुष्क से लेकर स्त्रीवेद पर्यन्त सोलह प्रकृतियों के नाम बताये हैं।

इस प्रकार पूर्व गाथा में बताई गई नौ और इस गाथा में कही

गई सोलह प्रकृतियों को मिलाने से दूसरे गुणस्थान के अन्त समय में व्युच्छिन्न होने वाली कुल २५ प्रकृतियाँ हो जाती हैं।

ग्रन्थकार ने २५ प्रकृतियों में से नीचगोत्र, उद्योतनाम, अप्रशस्त विहायोगतिनाम और स्त्रीवेद, इन चार का तो अलग-अलग नामोल्लेख कर दिया है। और बाकी बची हुई २१ प्रकृतियों के नाम निम्नलिखित संज्ञाओं द्वारा बताये हैं—नरकत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मध्यमसंस्थानचतुष्क, मध्यमसंहननचतुष्क।

उक्त संज्ञाओं से ग्रहण की जाने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचत्रिक—तिर्यंचगति, तिर्यंच-आनुपूर्वी, तिचर्य-आयु।

स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि।

दुर्भगत्रिक—दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम।

अनन्तानुबन्धीचतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ।

मध्यमसंस्थानचतुष्क—न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान।

मध्यमसंहननचतुष्क—ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्ध-नाराचसंहनन, कीलिका संस्हन।

पूर्वोक्त तिर्यंचत्रिक से लेकर स्त्रीवेद पर्यंत २५ कर्मप्रकृतियों का विच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्त में हो जाता है। अर्थात् आगे तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानों में इनका बन्ध नहीं हो सकता है। इसका कारण यह कि तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों का बन्ध अनन्तानुबन्धीकषाय के उदय से होता है और अनन्तानुबन्धीकषाय का उदय सिर्फ पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही रहता है, तीसरे आदि आगे के गुणस्थान में नहीं। इसलिए दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से

तिर्यंचत्रिक आदि २५ प्रकृतियों को कम करने से तीसरे गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जानी चाहिए थीं।

किन्तु तीसरे—मिश्रगुणस्थानवर्ती (सम्यग्‌मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती) जीव का स्वभाव ऐसा होता है कि उस समय उसका मरण नहीं होता है और न परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध ही होता है।[1] क्योंकि मिश्रगुणस्थान और मिश्रकाययोग की स्थिति में आयुकर्म का बन्ध नहीं हो सकता है। इसलिए आयुकर्म के चार भेदों में से नरकायु का बन्ध पहले गुणस्थान तक और तिर्यंचायु का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक होने से तथा 'दुआउ अबन्धा' बाकी की मनुष्यायु और देवायु इन दो आयु का तीसरे गुणस्थान में बन्ध न होने से नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु एवं देवायु सहित कुल २७ प्रकृतियों को सासादन गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से कम करने पर शेष ७४ कर्मप्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं।

अब आगे की गाथा में चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि, पाँचवें देशविरत और छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और इनके नाम बतलाते हैं—

सम्मे सगसयरि जिणाउबन्धि, वइर नरतिग बियकसाय।
उरलदुगन्तो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायन्तो ॥६॥

गाथार्थ—अविरतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में जिन—तीर्थंङ्कर नामकर्म और दो आयु का बन्ध होने से ७७ प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क और औदारिकद्विक के बन्धविच्छेद होने से देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान

---

१. सम्मामिच्छादिट्ठी आउयबन्धं पि न करेइ त्ति। —इति आगमवचनात्

में सड़सठ प्रकृतियों का बन्ध होता है और तीसरी कषाय—प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का विच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्त में होने से तिरेसठ प्रकृतियाँ छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं। (छठे गुणस्थान का नाम और बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या बताने के लिए आगे की गाथा से 'तेवट्ठिपमत्ते' पद लेना चाहिए।)

विशेषार्थ—गाथा में चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान की बन्धयोग्य और बन्धविच्छेद होने वाली प्रकृतियों के नामों का संकेत किया है।

सर्वप्रथम चौथे गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि बतलाते हैं।

तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य ७४ प्रकृतियाँ हैं और इस गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बन्धविच्छेद नहीं होता है। अतः चौथे अविरत सम्यग्दृष्टिगुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होनी चाहिए थीं। लेकिन 'सम्ममेव तित्थबन्धो' सम्यग्दृष्टि के ही तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है, यह सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थान में तीर्थङ्करनाम बाधा जा सकता है तथा इसी प्रकार 'सम्मामिच्छादिट्ठी आउयबन्धं पि न करेइ त्ति' के सिद्धान्तानुसार तीसरे गुणस्थान में जो मनुष्यायु और देवायु[1] का भी बन्ध नहीं होता था, उन दोनों आयुओं का चौथे गुणस्थान में बन्ध हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म एवं मनुष्यायु, देवायु इन तीन प्रकृतियों के साथ चौथे गुणस्थान में तीसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य

---

१. नरकायु और तिर्यंचायु का बन्धविच्छेद पहले और दूसरे गुणस्थान में हो जाने से मनुष्यायु और देवायु ये दो प्रकृतियाँ बन्धयोग्य रहती हैं।

७४ कर्मप्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, अतएव सब मिलाकर ७७ कर्मप्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान में माना जाता है।

चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव और नारक यदि परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध करें तो मनुष्यायु और तिर्यंचायु को बांधते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच देवायु को बांधते हैं।

अब पांचवें देशविरत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, उनके नाम और कारण आदि को समझाते हैं।

पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। चौथे गुणस्थान में जो बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियां हैं, उनमें से वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण मान, अप्रत्याख्यानावरण माया, अप्रत्याख्यानावरण लोभ और औदारिकद्विक—औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, इन १० प्रकृतियों का बन्धविच्छेद चौथे गुणस्थान[1] के अन्त में होने से पांचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पांचवें आदि गुणस्थानों में मनुष्यभवयोग्य कर्मप्रकृतियों का बन्ध न होकर देवभवयोग्य कर्मप्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इसलिए मनुष्यगति, मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन कर्मप्रकृतियां केवल मनुष्यजन्म में तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन, औदारिकशरीर और औदारिकअंगोपांग ये तीन कर्मप्रकृतियां मनुष्य या तिर्यंच के जन्म में ही भोगनेयोग्य होने से इन छह प्रकृतियों का पांचवें आदि गुणस्थानों में बन्ध नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों

१. तुलना करो—

अयदे बिदियकसाया वज्जं ओरालमणुदुमणुवाऊ। —गो० कर्मकांड ६७

का बन्ध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। क्योंकि कषाय के बन्ध के लिए यह सामान्य नियम है कि जितने गुणस्थानों में जिस कषाय का उदय हो सकता है, उतने गुणस्थानों तक उस कषाय का बन्ध होता है।

पाँचवें देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव देशसंयम का पालन करने वाला होता है। अर्थात् एकदेश संयम का पालन करने वाले को देशविरत कहते हैं। देशसंयम को रोकने वाली अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। अतः जब तक उसका उदय रहेगा, तब तक देशसंयम ग्रहण नहीं हो सकने से जीव को पाँचवां गुणस्थान प्राप्त नहीं होगा।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में वज्रऋषभनाराचसंहनन से लेकर औदारिकअंगोपांग पर्यन्त दस प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से शेष ६७ प्रकृतियों का बन्ध पाँचवें गुणस्थान में होता है।

पाँचवें गुणस्थान में बन्धयोग्य उक्त ६७ प्रकृतियों में से प्रत्याख्यावरणचतुष्क - प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों का उदय पाँचवें गुणस्थान तक ही होता है और उसके अन्तिम समय में बन्धविच्छेद[1] हो जाने से प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि उक्त कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियां छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं। अर्थात् प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि चार कषायों का बन्ध पाँचवें गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि उन कषायों का उदय रहे तो छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिए प्रत्याख्यानावरण

---

१. तुलना करो—

देसे तदियकसाया णियमेणिह बन्धवोच्छिण्णा। —गो० कर्मकांड ६७

क्रोध आदि उक्त चार कषायों को छोड़कर शेष ६३ प्रकृतियाँ छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य मानी हैं।

इस प्रकार चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि बतलाने के पश्चात् अब आगे की दो गाथाओं में सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और विशेषता समझाते हैं।

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ।।७।।
गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउबन्धं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारदुगं बन्धे ।।८।।

गाथार्थ—(शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध प्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है।) शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्तिनाम और असातावेदनीय—इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने और आहारकद्विक का बन्ध होने से अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का और यदि कोई जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा करता है तो उसकी अपेक्षा से अरति आदि पूर्वोक्त ६ प्रकृतियों तथा देवायु कुल सात प्रकृतियों का बन्धविच्छेद कर देने से ५८ प्रकृतियों का बन्ध होना माना जाता है।

विशेषार्थ- सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं कि छठे गुणस्थान में बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियों में से शोक, अरति, अस्थिरद्विक – अस्थिरनाम और अशुभनाम, अयशः-कीर्तिनाम और असातावेदनीय—इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद

छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से सातवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का बन्ध होना चाहिए, किन्तु इस गुणस्थान में आहारकद्विक —आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग—यह दो प्रकृतियाँ भी बन्धयोग्य होने से ५९ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी जाती हैं। लेकिन जो जीव छठे गुणस्थान में ही देवायु का भी बन्धविच्छेद कर सातवें गुण-स्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियाँ सातवें गुणस्थान में बन्धयोग्य मानी जाती हैं।

उक्त विभिन्नता का कारण यह है कि सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीव दो प्रकार के हैं—

(१) जो छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध को प्रारम्भ करके उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं और सातवें गुणस्थान में देवायु के बन्ध को समाप्त करते हैं।

(२) जो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसका विच्छेद इन दोनों को छठे गुणस्थान में ही करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के जीवों में से पहले प्रकार के जीव तो छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में शोक, अरति, अस्थिरनाम, अशुभनाम, अयशःकीर्ति और असातावेदनीय—इन छह प्रकृतियों का विच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। अतः इन जीवों की अपेक्षा छठे गुणस्थान की बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियों में से उक्त अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ सातवें गुणस्थान में बन्धयोग्य होनी चाहिए थीं। लेकिन आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग—इन दो प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान में ही होने से इन दोनों का बन्ध भी सातवें गुणस्थान में होता है। अतः इन दो प्रकृतियों के साथ ५७ प्रकृतियों को जोड़ने से सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

लेकिन छठे गुणस्थान में ही देवायु का बन्धविच्छेद करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा अरति, शोक आदि छह प्रकृतियों एवं देवायु, कुल ७ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से ६३ प्रकृतियों में से शेष रही ५६ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को मिलाने से सातवें गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।

उक्त दोनों कथनों का सारांश यह है कि छठे गुणस्थान में देवायु के बन्ध को प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा ५९ प्रकृतियाँ और देवायु के बन्ध का प्रारम्भ और उसका विच्छेद इन दोनों को छठे गुणस्थान में करके सातवें गुणस्थान को प्राप्त करने वाले जीवों की अपेक्षा ५८ प्रकृतियाँ सातवें गुणस्थान में बन्धयोग्य हैं।

सातवें गुणस्थान में देवायु के बन्ध की गणना का आशय यह है कि देवायु को प्रमत्त ही बाँधता है, किन्तु अति विशुद्ध और स्थिर परिणाम वाला होने से अप्रमत्त जीव नहीं बाँधता है। इसलिए जिस जीव ने छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध किया और उसी में उसका विच्छेद न करके अपने विशुद्ध परिणामों के कारण सातवें गुणस्थान में आ गया और इस गुणस्थान में देवायु का विच्छेद किया तो इस अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में देवायु का बन्ध कहा जाता है और बन्धयोग्य ५९ प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। लेकिन सातवें गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता है।

सातवें गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों का कथन करने के बाद अब आठवें अपूर्वकरण, नौवें अनिवृत्तिकरण और दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनके नाम तीन गाथाओं द्वारा बतलाते हैं—

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥
समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबन्धो हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥
अनियट्टि भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबन्धो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥

गाथार्थ—अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रारम्भ में अट्ठावन और निद्राद्विक का अन्त करने से पांच भागों में छप्पन तथा छठे भाग में सुरद्विक, पंचेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनवक, औदारिकशरीर के सिवाय शेष शरीर और अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, निर्माण, जिननाम, वर्णचतुष्क और अगुरुलघुचतुष्क इन तीस प्रकृतियों का अन्त करने से अन्तिम भाग में छब्बीस प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा हास्य, रति, जुगुप्सा और भय का अन्त करने से अनिवृत्तिगुणस्थान में बाईस प्रकृतियों का बन्ध होता है। अनन्तर पुरुषवेद और संज्वलन कषायचतुष्क में से क्रमशः एक के बाद एक काम करने, छेद होने से सूक्ष्मसंपराय में सत्रह प्रकृतियों का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में आठवें अपूर्वकरण, नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय और दसवें सूक्ष्मसंपराय इन तीन गुणस्थानों की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनके नाम बताये हैं। उनमें से सर्वप्रथम आठवें गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम, बन्धविच्छेद प्रकृति संख्या और उनके कारण आदि को समझाते हैं।

सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उन गुणस्थानों में आयु

का बन्ध नहीं होता है। यद्यपि सातवें गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों के बन्ध का आपेक्षिक पक्ष कहा गया है, उसमें देवायु की भी गणना की गई है। इसके लिए यह समझना चाहिए कि छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुए देवायु के बन्ध की सातवें गुणस्थान में समाप्ति होती है। अतः उसी अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की बन्धयोग्य ५९ प्रकृतियों में देवायु की गणना की गई है। किन्तु सातवें गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता और आठवें आदि गुणस्थान में तो देवायु के बन्ध का प्रारम्भ भी नहीं होता और समाप्ति भी नहीं होती है। अतएव देवायु को छोड़कर शेष ५८ प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बन्धयोग्य हैं।

आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के सात भाग होते हैं। इन भागों में से पहले भाग में तो ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है और पहले भाग के अन्तिम समय में निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला—इन दो प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से आगे दूसरे से लेकर छठे भाग तक पांच भागों में ५६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इन ५६ प्रकृतियों में से छठे भाग के अन्त में निम्नलिखित ३० प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाता है—

सुरद्विक—देवगति, देव-आनुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय), वैक्रियशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कार्मणशरीरनाम, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अंगोपांग, समचतुरस्र-संस्थान, निर्माणनाम, तीर्थङ्करनाम, वर्णचतुष्क (वर्ण, गंध, रस और

मार्गदर्शक — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

स्पर्शनाम), अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनाम, उपघात नाम, पराघात-नाम और उच्छ्वासनाम)।[1]

नामकर्म की ये ३० प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं, आगे नहीं। अतः पूर्वोक्त ५६ प्रकृतियों में से इन ३० प्रकृतियों को घटा देने से शेष २६ प्रकृतियों का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है।

आठवें गुणस्थान के अन्तिम सातवें भाग में बन्धयोग्य शेष रही हुई २६ प्रकृतियों में से अन्तिम समय में हास्य, रति, जुगुप्सा और भय,[2]—नोकषायमोहनीयकर्म की इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से नौवें आदि आगे के गुणस्थानों में इनका बन्ध नहीं होता है।

अब नौवें और दसव गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम आदि बतलाते हैं।

नौवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उस स्थिति के पाँच भाग होते हैं, अतएव आठवें गुणस्थान में अन्तिम समय—सातवें भाग के अन्त में हास्य, रति, जुगुप्सा व भय इन चार प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग में २२ प्रकृतियों

---

१. तुलना करो—

मरणूणम्हि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य।
छट्ठे भागे तित्थं णिमिणं सग्गमणपंचिंदी॥
तेजदुहारदुसमचउसुरवण्णागुरुचउक्कतसणवयं।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, ९९-१००

२. तुलना करो—

चरमे हस्सं च रदी भयं जुगुच्छा य बन्धवोच्छिण्णा।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, १००

का बन्ध होता है। इसके बाद पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक-एक प्रकृति का बन्धविच्छेद क्रमशः नौवें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है।[1] इनके बन्धविच्छेद के क्रम को नीचे स्पष्ट करते हैं।

नौवें गुणस्थान के पहले भाग में बाँधी गई २२ प्रकृतियों में से पुरुषवेद का विच्छेद पहले भाग के अन्तिम समय में हो जाने से दूसरे भाग में २१ प्रकृतियों का बन्ध होगा। इन २१ प्रकृतियों में से संज्वलन क्रोध का विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में होता है। अतः इससे बाकी रही हुई २० प्रकृतियों का बन्ध तीसरे भाग में होता है। इन २० प्रकृतियों में से संज्वलन मान का विच्छेद तीसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाने से चौथे भाग में १९ प्रकृतियों का बन्ध होगा और चौथे भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अर्थात् नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार इन १८ प्रकृतियों में से भी संज्वलन लोभ का बन्ध नौवें गुणस्थान के पाँचवें भाग पर्यन्त होता है और इस भाग के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का बन्धविच्छेद हो जाने से दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या और नामों का कथन हो जाने के बाद आगे की गाथा

---

१. तुलना करो—

पुरिसं चदु संजलणं कमेण अणियट्टि पंचभागेसु।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, १०१

में ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक की बन्धयोग्य प्रकृतियों को बतलाते हैं।

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायबन्ध छेओ सजोगि बन्धं तुणंतो अ ॥१२॥

गाथार्थ—चार दर्शनावरणीय, उच्चगोत्र, यशःकीर्तिनाम और ज्ञानावरणीय-अन्तराय दशक (ज्ञानावरणीय की पाँच और अन्तराय की पाँच प्रकृतियाँ) इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने से ग्यारह, बारह और तेरह—इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है और सयोगिकेवली गुणस्थान में उसका भी विच्छेद होने से चौदहवें गुणस्थान में उसके भी बन्ध का अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्धयोग्य प्रकृतियों का निर्देश करते हुए चौदहवें गुणस्थान की अबन्धदशा और उसके कारण को बतलाया है।

यद्यपि दसवें गुणस्थान में बन्ध के वास्तविक कारण स्थूल लोभ-कषाय का उदय नहीं रहता है, किन्तु सूक्ष्म-सी लोभ कषाय रहती है, जो बन्ध का कारण नहीं है। फिर भी कषाय का अति सूक्ष्म अंश दसवें गुणस्थान में है, इसलिए बन्ध के कारण कषाय और योग के वहाँ रहने से कषाय निमित्तक चार दर्शनावरण (चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण), उच्चगोत्र, यशःकीर्तिनाम, पाँच ज्ञानावरण (मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण), पाँच अन्त-राय (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्या-

न्तराय)—ये १६ प्रकृतियाँ और योगनिमित्तिक सातावेदनीय कुल १७ प्रकृतियों का बन्ध दसवें गुणस्थान में होता है।

दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्म कषायांश के नष्ट हो जाने से तन्निमित्तिक चार दर्शनावरण आदि उक्त १६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद[1] हो जाता है, किन्तु योग का सद्भाव है, इसलिए ग्यारहवें—उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, बारहवें—क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ और तेरहवें—सयोगिकेवली इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ योगनिमित्तक सातावेदनीय प्रकृति बन्धयोग्य रहती है।[2]

इसके अनन्तर चौदहवें—अयोगिकेवली गुणस्थान में बन्ध के कारण योग का भी अभाव होने से न तो किसी कर्म का बन्ध ही होता है और न बन्धविच्छेद ही इसलिए चौदहवें गुणस्थान में अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त होती है।

यह अबन्धकत्व अवस्था प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के बाद जीव अपने स्वरूप में रमण करता रहता है।

पूर्वोक्त प्रकार से चौदह गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या, नाम और बन्धविच्छेद को बतलाया गया है। कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच कारण हैं।[3] इन बन्ध के कारणों की संख्या के बारे में निम्नलिखित तीन परम्परायें देखने में आती हैं—

---

१. तुलना करो—

पढमं विग्घं दंसणचउजसउच्चं च सुहुमन्ते। —गो० कर्मकाण्ड, १०१

२. उवसंतखीणमोहे जोगिम्हि य समयियट्ठिदी सादं।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, १०२

३. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः। —तत्त्वार्थसूत्र ८-१

(१) कषाय और योग—ये दोनों ही बन्धहेतु हैं।

(२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार बन्धहेतु हैं।

(३) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँचों बन्धहेतु हैं।

इस तरह से संख्या और नामों के भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन तीनों परम्पराओं में कोई भेद नहीं है। क्योंकि प्रमाद एक प्रकार का असंयम ही तो है। अतः वह अविरति या कषाय के अन्तर्गत ही है और बारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असंयम ये दोनों कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पड़ते अतः कषाय और योग इन दोनों को ही बन्धहेतु माना जाता है।

कर्मग्रन्थों में आध्यात्मिक विकास की भूमिका रूप गुणस्थानों में बंधने वाली कर्मप्रकृतियों के तरतमभाव के कारण को बतलाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्धहेतुओं का कथन किया जाता है और इनके माध्यम से जीव की विकास स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसलिए जिस गुणस्थान में उक्त चार में से जितने अधिक बन्धहेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उतना ही अधिक होगा और जहाँ पर ये बन्धहेतु कम होंगे, वहाँ पर कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी कम ही होगा। अर्थात् मिथ्यात्व आदि चार हेतुओं के कथन की परम्परा अलग-अलग गुणस्थानों में तरतमभाव को प्राप्त होने वाले कर्मबन्ध के कारणों का स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मग्रन्थों में ग्रहण की जाती है।

कर्मप्रकृतियों के बन्ध के विषय में यह एक साधारण-सा नियम है कि जिन कर्मप्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही उन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता रहता है

और किसी एक कारण के कम हो जाने से उन कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। शेष सब कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।

जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त रहते हैं, अतः उक्त १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी उस समय तक हो सकता है। लेकिन पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व नहीं रहता है, इसलिए नरकत्रिक आदि पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता है। इसी प्रकार दूसरी-दूसरी कर्मप्रकृतियों का बन्ध व विच्छेद, बन्धहेतुओं के सद्भाव और विच्छेद पर निर्भर है।

इन बन्धहेतुओं की अपेक्षा गुणस्थानों का वर्गीकरण, बन्धयोग्य प्रकृतियों की अल्पाधिक संख्या, नाम और कारण आदि के लिए परिशिष्ट देखिये।

इस प्रकार गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों का कथन करने के पश्चात निर्देशानुसार आगे की गाथा में उदय और उदीरणा का लक्षण, उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में उदय को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों की संख्या और उसके कारणों को स्पष्ट करते हैं।

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

गाथार्थ—विपाक के समय फल को भोगना उदय और विपाक का समय न होते हुए भी फल का भोग करना उदीरणा कहलाता है। सामान्य से उदय और उदीरणायोग्य कर्मप्रकृतियाँ १२२ हैं। उनमें से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व-

मोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थङ्करनाम—इन पांच प्रकृतियों का उदय न होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

विशेषार्थ—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मदलिकों का अपने नियत समय पर शुभाशुभ फलों का अनुभव कराना उदय है एवं कर्मदलिकों को प्रयत्न विशेष से खींचकर नियत समय से पहले ही उनके शुभाशुभ फलों को भोगना उदीरणा कहलाती है।

कोई भी कर्म जिस समय बंधता है, उसी समय से उसकी सत्ता शुरू होती है और जिस कर्म का जितना अबाधाकाल हो, उसके पूरे होने पर ही उन कर्मों की उदय में आने के लिए कर्मदलिकों की एक प्रकार की रचना-विशेष होती है और कर्म उदयावलिका में स्थित होकर, उदय में आकर फल देना प्रारम्भ कर देता है।

कर्मों के शुभाशुभ फल को भोगने का ही नाम उदय और उदीरणा है किन्तु उनमें भेद इतना है कि उदय में प्रयत्न बिना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और उदीरणा में फलोदय के अप्राप्त-काल में प्रयत्न द्वारा कर्मों को उदयोन्मुख करके फल का भोग होता है। कर्मविपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने के प्रसंग में रसोदय को ग्रहण करना चाहिए, किन्तु प्रदेशोदय को उदयाधिकार में ग्रहण करना इष्ट नहीं।

प्रत्येक कर्म में बन्ध के समय उसके कारणभूत काषायिक अध्य-वसाय के तीव्र-मन्द भाव के अनुसार तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है और अवसर आने पर तदनुसार फल देता है। परन्तु इस विषय में इतना समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक फलप्रद शक्ति स्वयं जिस कर्म में निहित हो, उसी कर्म के स्वभाव, प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, दूसरे कर्मों के स्वभावानुसार नहीं। जैसे ज्ञानावरणकर्म

की फलप्रद शक्ति उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल देती है और ज्ञान को आवृत करने का ही काम करती है, लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देती है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की फलप्रद शक्ति के लिए भी समझना चाहिये।

कर्म के स्वभावानुसार फल देने का नियम मूलप्रकृतियों में ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियों में नहीं। क्योंकि अध्यवसाय के बल से किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में भी बदल सकती है। जिससे पहले की फलप्रद शक्ति परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करती है। जैसे मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में परिवर्तित होता है, तब मतिज्ञानावरण की फलप्रद शक्ति श्रुत-ज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि को आवृत करने का कार्य करती है।

लेकिन सभी उत्तरप्रकृतियों के लिए यह नियम लागू नहीं होता है। कितनी ही उत्तरप्रकृतियाँ ऐसी भी हैं जो सजातीय होने पर भी परस्पर संक्रमित नहीं होती हैं, जैसे—दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता है। इसी तरह आयुकर्म की चारों आयुओं में परस्पर अन्य आयु के रूप में संक्रमण नहीं होता है।

सामान्यतया उदययोग्य प्रकृतियाँ १२२ हैं और बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार उदय और बन्धयोग्य प्रकृतियों में दो का अन्तर है, जो नहीं होना चाहिए। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बन्ध हो, उतनी ही प्रकृतियों को उदययोग्य माना जाना चाहिए। उस स्थिति में बिना कर्मबन्ध के कर्मफल भोगना माना जायगा, जो सिद्धान्त-विरुद्ध है। इसका स्पष्टीकरण नीचे लिखे अनुसार है—

बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों की अपेक्षा १२२ प्रकृतियों को उदययोग्य बताने के कारण यह है कि बन्ध केवल मिथ्यात्वमोहनीय का ही होता है और वह मिथ्यात्वमोहनीय जब परिणामों की विशुद्धता से अर्द्ध विशुद्ध और शुद्ध रूप हो जाता है, तब मिश्रमोहनीय (सम्यग्-मिथ्यात्वमोहनीय) तथा सम्यक्त्वमोहनीय के रूप से उदय में आने से बन्धयोग्य १२० में इन दोनों को मिलाने पर कुल १२२ प्रकृतियाँ उदय और उदीरणायोग्य मानी जाती हैं।

उदय और उदीरणा योग्य १२२ कर्मप्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २ और अन्तराय ५। इस प्रकार ५+९+२+२८+४+६७+२+५=१२२ हो जाती हैं।

उदययोग्य १२२ कर्मप्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में, सम्यक्त्वमोहनीय का उदय चौथे गुणस्थान में, आहारक-द्विक (आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग) का उदय प्रमत्त गुणस्थान में और तीर्थङ्करनाम का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में होने से इन पाँच कर्मप्रकृतियों को छोड़कर शेष ११७ प्रकृतियों का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में माना जाता है। अर्थात् उक्त पाँच प्रकृतियों का अनुदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

इस प्रकार उदय और उदीरणा का लक्षण और सामान्य से उदय-योग्य प्रकृतियों की संख्या, उसका कारण तथा पहले गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और सम्बन्धित कारण को बतलाने के बाद अब दूसरे सासादन गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तविरत गुण-स्थान पर्यन्त ६ गुणस्थानों की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या आदि का कथन करते हैं—

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥
मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥१५॥
मणुतिरिणुपुव्विं विउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सत्तरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥
अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

गाथार्थ—सूक्ष्मत्रिक, आतपनाम और मिथ्यात्वमोहनीय का मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में क्षय होने और नरकानुपूर्वी का अनुदय होने से सासादनगुणस्थान में एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का तथा अनन्तानुबंधीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रिय-जाति, विकलेन्द्रियत्रिक का अन्त होने से तथा आनुपूर्वीनाम-कर्म का अनुदय एवं मिश्रमोहनीय का उदय होने से मिश्र-गुणस्थान में एक सौ प्रकृतियों का उदय होता है ।

तीसरे गुणस्थान के अन्त में मिश्रमोहनीय का अन्त होने तथा सम्यक्त्वमोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों को मिलाने से अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में एक सौ चार प्रकृतियों का और दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, मनुष्य-आनुपूर्वी, तिर्यंच-आनुपूर्वी, वैक्रियाष्टक, दुर्भग और अनादेयद्विक इन सत्रह प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य एक सौ चार प्रकृतियों में से कम करने पर देशविरत गुणस्थान में सतासी प्रकृतियों का उदय होता है ।

पाँचवें गुणस्थान की उक्त सतासी प्रकृतियों में से तिर्यंच-

गति और आयु, नीचगोत्र, उद्योत, तीसरी प्रत्याख्यानावरण-कषायचतुष्क का छेद होने तथा आहारकद्विक को मिलाने से छठे प्रमत्तविरतगुणस्थान में इक्यासी प्रकृतियों का उदय होता है और छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में से स्त्यान-द्धित्रिक और आहारकद्विक इन पाँचों प्रकृतियों को कम करने पर सातवें अप्रमत्तविरतगुणस्थान में छिहत्तर प्रकृतियों का उदय है।

विशेषार्थ—इन चारों गाथाओं में सासादन गुणस्थान, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि (मिश्र) गुणस्थान, अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान, देशविरत गुण-स्थान, प्रमत्तसंयत गुणस्थान और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उस-उस गुणस्थान के अन्त में विच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों को बतलाया है।

पहले गुणस्थान में जो ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं, उनमें से सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म, साधारणनामकर्म तथा आतपनामकर्म, और मिथ्यात्वमोहनीय—ये पाँच प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के कारण ही उदय में आती हैं। किन्तु सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने पर इन पाँच प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि सूक्ष्मनामकर्म का उदय सूक्ष्म जीवों को, अपर्याप्तनामकर्म का उदय अपर्याप्त जीवों को और साधारणनामकर्म का उदय साधारण जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीवों को न तो सासादन गुणस्थान प्राप्त होता है और न कोई सासादनसम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है और न सासादनसम्यक्त्व प्राप्त जीव सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण रूप में पैदा होता है, अर्थात् सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण जीव मिथ्यात्वी ही होते हैं।

शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद बादर पृथ्वीकायिक जीवों के आतपनामकर्म का उदय हो सकता है, पहले नहीं। लेकिन सासादन सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर पृथ्वीकाय में जन्म ग्रहण करते हैं, वे शरीरपर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही पूर्वप्राप्त सास्वादन सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं, यानी बादर पृथ्वीकायिक जीवों को जब सास्वादन सम्यक्त्व की सम्भावना होती है तब आतपनामकर्म का उदय संभव नहीं है और जिस समय आतपनामकर्म होना संभव होता है, उस समय उनके सास्वादनसम्यक्त्व संभव नहीं है। इसी कारण सासादन गुणस्थान में आतपनामकर्म का उदय नहीं माना जाता है।

मिथ्यात्व का उदय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। दूसरे, तीसरे आदि आगे के गुणस्थान में नहीं। अतः पहले मिथ्यात्व-गुणस्थान के चरम समय में सूक्ष्म से लेकर मिथ्यात्व पर्यन्त पूर्वोक्त पाँच प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से दूसरे आदि आगे के गुणस्थानों में उदय नहीं होता है।[1]

इस प्रकार पहले गुणस्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से उक्त सूक्ष्म आदि पाँच प्रकृतियों के कम होने से ११२ प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में होना चाहिए था किन्तु औपशमिक सम्यक्त्व से च्युत (पतित) होकर सासादन गुणस्थान में आकर टिकने वाला जीव नरकगति में नहीं जाता है, किन्तु मिथ्यात्व प्राप्त कर ही जाता है। इसलिए नरकगति में जाने वाले जीव को सासादन गुणस्थान नहीं होने से नरकानुपूर्वी का उदय नहीं होता है। नरकानुपूर्वी का उदय वक्रगति से नरक में जाने वाले जीवों को होता है। परन्तु उस अवस्था में उन

---

१. मिच्छे मिच्छादावं सुहुमतियं…………उदयवोच्छिण्णा।
मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्मादि तीन—इन पाँच प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है। —**गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६५**

जीवों को सास्वादनसम्यक्त्व नहीं होता है और सास्वादनसम्यक्त्व-प्रतिपन्न जीव नरक में नहीं उपजता है। अतः सासादन गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नहीं होता है।[1]

इस प्रकार पहले गुणस्थान के चरम समय में व्युच्छिन्न होने वाली सूक्ष्म आदि पांच एवं नरकानुपूर्वी कुल छह प्रकृतियों को पहले गुण-स्थान की उदययोग्य ११७ प्रकृतियों में से कम करने पर दूसरे गुण-स्थान में १११ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

अब तीसरे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और दूसरे गुणस्थान के अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

दूसरे गुणस्थान की उदययोग्य १११ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी-कषायचतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा स्थावर-नाम, एकेन्द्रियजाति और विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय-जाति और चतुरिन्द्रियजाति—ये नौ प्रकृतियां दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छिन्न हो जाती हैं। क्योंकि अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानों तक ही होता है, तथा स्थावर-नामकर्म और एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरि-न्द्रियजाति नामकर्म के उदय वालों में पहला और दूसरा गुणस्थान होता है। तीसरे से लेकर आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं। क्योंकि स्थावरनाम और एकेन्द्रियजातिनामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों को होता है तथा द्वीन्द्रियजातिनाम का उदय द्वीन्द्रिय जीवों को, त्रीन्द्रियजातिनाम का उदय त्रीन्द्रिय जीवों को और चतुरिन्द्रियजाति-

१. णिरयं सासणसम्मो ण गच्छदित्ति य ण तस्स णिरयाणू।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६२

नाम का उदय चतुरिन्द्रिय जीवों को होता है और इन जीवों के पहला या दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं।

अतः अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रियजातिनाम पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों का उदयविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है[1] तथा 'अणुपुव्वीणुदया' अर्थात् नरकानुपूर्वी का उदय-विच्छेद पहले गुणस्थान के चरम समय में हो जाने से शेष रही हुई तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी—ये तीनों आनुपूर्वियाँ तीसरे गुणस्थान में अनुदयरूप होने से तीसरे गुणस्थान की उदय प्रकृतियों में नहीं गिनी जाती हैं।

आनुपूर्वीनामकर्म का उदय जीवों को उसी समय होता है, जब वे पर-भव में जन्म ग्रहण करने के लिए वक्रगति से जाते हैं। किन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव मरता नहीं है और जब वर्तमान भव सम्बन्धी शरीर को छोड़कर आगामी भव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने की सम्भावना ही तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के नहीं तो आनुपूर्वी नामकर्म का उदय भी नहीं हो सकता है। इसीलिए तीसरे गुणस्थान में आनुपूर्वियों का अनुदय माना है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर चतुरिन्द्रिय नामकर्म पर्यन्त कुल नौ प्रकृतियों तथा तिर्यंच, मनुष्य और देव आनुपूर्वी इन तीनों आनुपूर्वियों सहित बारह प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान की उदय-योग्य १११ प्रकृतियों में से कम करने पर तीसरे गुणस्थान में ९९ प्रकृ-तियों का उदय होना माना जाना चाहिए था। किन्तु मिश्रमोहनीय कर्म का उदय तीसरे गुणस्थान 'मीसे मीसोदएण' में ही होने से उक्त

---

१. सासणे अणेइन्दी, थावरवियलं च उदय वोच्छिण्णा।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६५

९९ प्रकृतियों में मिश्रमोहनीयकर्म को मिलाने से कुल १०० प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में माना जाता है।

तीसरे गुणस्थान में उदययोग्य १०० प्रकृतियों में से इसी गुणस्थान के अन्तिम समय में मिश्रमोहनीय का उदयविच्छेद हो जाता है।[1] अतः चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के उक्त १०० प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय के सिवाय शेष रही ९९ प्रकृतियों तथा 'सम्माणुपुव्विखेवा' सम्यक्त्वमोहनीय एवं चारों आनुपूर्वियों—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आनुपूर्वियों का उदय[2] सम्भव है। इसलिए चौथे गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

चौथे गुणस्थान में उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक, दुर्भग नामकर्म, अनादेयनामकर्म, अयशःकीर्तिनामकर्म इन १७ प्रकृतियों का चौथे गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है।[3] अतः इन १७

---

१. मिस्से मिस्सं च उदयवोच्छिण्णा। —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६५

२. अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रतादि संयम का पालन नहीं करता है और ऐसा जीव (निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ६, सूत्र १९) चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध कर सकता है। अतः परभव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने के लिए विग्रहगति से जाते समय चारों आनुपूर्वियों में से यथायोग्य उस नाम वाले अनुपूर्वी नामकर्म का उदय अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को होता है।

३. तुलना करो—

अयदे बिदियकसाया वेगुव्विय छक्क णिरयदेवाऊ।
मणुयतिरियाणुपुव्वी दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं॥

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६६

प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य १०४ प्रकृतियों में से कम करने पर पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का उदय चौथे गुणस्थान तक रहता है और जब तक उक्त कषायचतुष्क का उदय है, तब तक जीवों को देशविरत आदि गुणस्थानों की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

पाँचवाँ गुणस्थान तिर्यंचों को होना सम्भव है और पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थान मनुष्यों को ही हो सकते हैं, देवों और नारकों को नहीं और मनुष्य भी आठ वर्ष की उम्र हो जाने के बाद ही उन गुणस्थानों को प्राप्त करने योग्य होते हैं, उसके पहले नहीं। अतः आनुपूर्वीनामकर्म का उदय वक्रगति से परभव सम्बन्धी शरीर को ग्रहण करने जाते समय आत्मा को होता है, परन्तु किसी भी आनुपूर्वी कर्म के उदय के समय जीवों को पाँचवाँ आदि गुणस्थान होना सम्भव नहीं है। इसीलिए चौथे गुणस्थान के चरम समय में इनका उदयविच्छेद होना माना है। नारक और देव-आनुपूर्वी—इन दो आनुपूर्वियों का उदय भी पाँचवें गुणस्थान में नहीं होता है। इन दोनों के नाम गाथा में 'विउवऽट्ठ' वैक्रिय-अष्टक शब्द में ग्रहण किये गये हैं। इन आठ प्रकृतियों के नाम और संख्या निम्न प्रकार हैं—

(१) वैक्रियशरीर, (२) वैक्रिय-अंगोपांग, (३) देवायु, (४) देवगति, (५) देवानुपूर्वी (६) नरकायु, (७) नरकगति और (८) नरकानुपूर्वी।

इन आठ प्रकृतियों में से देवायु और देवगति का उदय देवों और नरकायु तथा नरकगति का उदय नारकों को होता है। वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म का उदय देव और नारक—दोनों को होता है। परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि देव, नारकों में पाँचवाँ आदि गुणस्थान नहीं होता है तथा आनुपूर्वियों के विषय में भी बताया

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जा चुका है कि वक्रगति से नवीन शरीर धारण करने जाते समय इनका उदय होता है और उस समय जीवों के पाँचवें आदि गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए वैक्रियाष्टक में बताई गई आठ प्रकृतियों का उदय-विच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से पाँचवें गुण-स्थान में उदय नहीं होता है।

शंका—पंचम गुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यंच दोनों ही वैक्रिय-लब्धि प्राप्त होने पर वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग बना सकते हैं। इसी प्रकार छठे गुणस्थान में वर्तमान वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मुनि भी वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग बना सकते हैं। उस समय उन छठे गुणस्थान वाले मनुष्यों और पाँचवें गुणस्थानवर्ती तिर्यंचों को वैक्रिय-शरीर और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म इन दोनों का उदय अवश्य रहता है। इसलिए पाँचवें और छठे गुणस्थान की उदययोग्य प्रकृतियों में वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म इन दोनों प्रकृतियों की गणना की जानी चाहिए।

समाधान—जिनको जन्म से लेकर मरण तक यावज्जीवन वैक्रिय-शरीर और वैक्रिय-अंगोपांग नामकर्म का उदय रहता है, ऐसे देव और नारकों की अपेक्षा से यहाँ उदयविचार किया गया है। किन्तु मनुष्यों और तिर्यंचों को तो कुछ समय के लिए इन दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सभी मनुष्यों और तिर्यंचों को नहीं। इसीलिए मनुष्यों की अपेक्षा से छठे और तिर्यंचों की अपेक्षा से पाँचवें गुणस्थान में उक्त दो प्रकृतियों का उदय सम्भव होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं की गई है। अर्थात् मनुष्य और तिर्यंचों को उत्तरवैक्रियशरीर (गुणप्रत्ययिक—लब्धि-विशेष से उत्पन्न होने वाला) होता है और वह अविरत सम्यक्त्वी चक्र-वर्ती आदि को भी हो सकता है तथा विष्णुकुमारादिक मुनियों को भी वैक्रियलब्धि प्राप्त हो गई थी और छठे कर्मग्रन्थ में भी योग के भांगों में अप्रमत्त को वैक्रियद्विक का उदय कहा है, परन्तु यहाँ गुणप्रत्ययिक उत्तर-

वैक्रिय की विवक्षा नहीं की है किन्तु उस गति में जन्म लेने से प्राप्त होने वाले (भवप्रत्ययिक) वैक्रियद्विक की विवक्षा की गई है। यह भव-प्रत्ययिक वैक्रियशरीर और वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म देव और नारकों को ही होता है, किन्तु उन्हें पाँचवाँ गुणस्थान नहीं होता। इसलिए वैक्रियद्विक का उदय पाँचवें गुणस्थान में नहीं माना जाता है।

इसी प्रकार पाँचवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त करने वाले जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे दुर्भग और अनादेयद्विक—अनादेय और अयशःकीर्तिनामकर्म, ये तीन प्रकृतियाँ पहले चार गुण-स्थानों में ही उदय को प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु पाँचवें आदि आगे के गुणस्थानों में इनका उदय होना सम्भव नहीं है।

इसलिये पाँचवें गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

छठे गुणस्थान में ८१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। जिनका स्पष्टी-करण इस प्रकार है—

पाँचवें गुणस्थान में उदययोग्य ८७ प्रकृतियों में से 'तिरिगइ आउ निउज्जोय' तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र और उद्योतनामकर्म[1] ये चार प्रकृतियाँ तिर्यंचों में उदययोग्य हैं और तिर्यंचों को पहले से पाँचवें गुणस्थान ही हो सकते हैं, छठे आदि आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं। इसलिए इन प्रकृतियों का उदयविच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम

---

१. शास्त्र में 'जइदेवुत्तरविक्रिय' पद में मुनियों और देवों को उत्तरवैक्रिय-शरीर धारण करने और उस शरीर को धारण करते समय उद्योतनामकर्म का उदय होना कहा है अतः जब वैक्रियशरीर वाले की अपेक्षा से छठे गुणस्थान में उद्योतनामकर्म का उदय पाया जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उद्योतनामकर्म का उदय क्यों माना जाता है? इसका समाधान यह है कि पाँचवें गुणस्थान तक जन्म के निमित्त से होने वाला ही उद्योत-नामकर्म का उदय विवक्षित किया गया है, लब्धि के निमित्त से होने वाला उद्योतनामकर्म का उदय विवक्षित नहीं किया है।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

समय में हो जाता है, अर्थात् छठे आदि आगे के गुणस्थानों में ये उदययोग्य नहीं हैं।

इस प्रकार तिर्यंचगति आदि उद्योत पर्यन्त चार प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान तक ही माना जाता है तथा प्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ – का उदय जब तक रहता है, तब तक छठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुण-स्थान की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् जब तक प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय रहता है, तब तक सकल संयम का पालन नहीं हो सकता है और न छठा गुणस्थान प्राप्त होता है। इसलिए इन कषायों का पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छेद हो जाने से ये छठे गुणस्थान में उदययोग्य नहीं मानी जाती हैं।

इस प्रकार पाँचवें गुणस्थान की उदययोग्य ८७ प्रकृतियों में से तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योतनामकर्म और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियों का उदयविच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है।[1] अतः इन आठ कर्मप्रकृतियों के बिना ७९ प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में होना माना जाना चाहिए। किन्तु आहारक-द्विक—आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग नामकर्म – इन दो प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में ही होने से पूर्वोक्त ७९ प्रकृतियों में इन दो को मिलाने से कुल ८१ प्रकृतियों का उदय छठे गुणस्थान में होना माना जाता है।

छठे गुणस्थान में आहारकद्विक का उदय उस समय पाया जाता है, जिस समय कोई चतुर्दश पूर्वधर मुनि लब्धि के द्वारा आहारकशरीर की रचनाकर उसे धारण करते हैं। चतुर्दश पूर्वधारी किसी सूक्ष्म विषय

१. देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोवणीच तिरियगदी।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६७

में सन्देह उत्पन्न होने पर तथा निकट में सर्वज्ञ के विद्यमान न होने से औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर में जाना असम्भव समझकर अपनी विशिष्ट लब्धि के प्रयोग द्वारा शुभ, सुन्दर, निरवद्य और अव्याघाती आहारकशरीर का निर्माण करते हैं और ऐसे शरीर से क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के पास पहुँचकर उनसे सन्देह का निवारण कर फिर अपने स्थान पर वापस आ जाते हैं।[1]

लेकिन वह चतुर्दश पूर्वधारी मुनि लब्धि का प्रयोग करने वाले होने से अवश्य ही प्रमादी होते हैं। जो लब्धि का प्रयोग करता है, वह उत्सुक हो ही जाता है और उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग होने को ही प्रमाद कहते हैं। इसलिए आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान में ही माना जाता है।

छठे गुणस्थान में उदययोग्य ८१ प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि तथा आहारकद्विक—इन पांच प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है।[2] क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमाद रूप है और

---

१. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव।

—तत्त्वार्थसूत्र, २४६

इसे आहारक समुद्घात भी कहते हैं। यह आहारकशरीर बनाते समय होता है एवं आहारकशरीरनामकर्म को विषय करता हुआ, अर्थात् आहारक लब्धि वाला साधु आहारकशरीर बनाने की इच्छा करता हुआ यथा स्थूल पूर्वबद्ध आहारकनामकर्म के प्रभूत पुद्गलों की निर्जरा करता है।

२. तुलना कीजिए—

छट्ठे आहारदुगं थीणतियं उदयवोच्छिण्णा।

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६७

छठे गुणस्थान से आगे प्रमाद का अभाव है। आहारकद्विक का उदय तो प्रमत्तसंयत को ही होता है। इसलिए इन पाँच प्रकृतियों का उदय-विच्छेद छठे गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है। जिससे छठे गुणस्थान की उदययोग्य ८१ प्रकृतियों में से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद भी कोई मुनि विशुद्ध परिणाम से आहारकशरीरवान होने पर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। बहुत ही अल्पकाल के लिए ऐसा होता है, अतएव सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक के उदय को नहीं गिना है। इसीलिए सातवें गुणस्थान में ७६ प्रकृतियों का उदय माना है।

इस प्रकार पहले से लेकर सातवें गुणस्थान तक की उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उनके अन्तिम समय में उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बताने के अनन्तर अब आगे की गाथाओं में आठवें—अपूर्वकरण गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें—उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान तक कर्मप्रकृतियों के उदय आदि को समझाते हैं।

सम्मत्तंतिमसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं ॥१८॥
संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहमंमि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥

गाथार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय और अन्त के तीन संहनन का अन्त होने से अपूर्वकरण गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय तथा इनमें से हास्यादिषट्क का अन्त होने से ६६ प्रकृतियों का उदय अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान में होता है। वेद-

त्रिक और संज्वलनत्रिक कुल छह प्रकृतियों का विच्छेद नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में होने से दसवें—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं तथा संज्वलनलोभ का दसवें गुणस्थान के अन्त में विच्छेद हो जाने से ग्यारहवें—उपशान्तमोह गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं तथा इन ५९ प्रकृतियों में से ऋषभनाराचसंहननद्विक का विच्छेद ग्यारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में आठवें, नौवें, दसवें और ग्यारहवें गुणस्थानों में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अन्त में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान श्रेणी आरोहण करने वाले मुनि के होते हैं और श्रेणी का आरोहण वह मुनि करता है, जिसके सम्यक्त्वमोहनीयकर्म का उपशम या क्षय हो जाता है, दूसरा नहीं। जब तक सम्यक्त्वमोहनीयकर्म का उदय रहता है, तब तक श्रेणी आरोहण नहीं किया जा सकता है। जो जीव सम्यक्त्वमोहनीय का उपशम करके श्रेणी आरोहण करता है, उसको उपशमश्रेणी वाला और जो क्षय करके श्रेणी आरोहण करता है उसको क्षपकश्रेणी वाला कहते हैं।

इसीलिए सातवें गुणस्थान में उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में से उसके अन्तिम समय में सम्यक्त्वमोहनीय का उदयविच्छेद हो जाता है तथा श्रेणी आरोहण की क्षमता आदि के तीन संहनन वाले जीवों के ही होती है और अन्तिम तीन संहनन वाले मंद विशुद्धि वाले होते हैं एवं उनकी क्षमता श्रेणी आरोहण करने योग्य नहीं होती है। इसलिए अन्तिम संहननत्रिक—अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन और सेवार्त-

संहनन—का सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उदयविच्छेद हो जाता है।[1] इसलिए सातवें गुणस्थान की उदययोग्य ७६ प्रकृतियों में उक्त चार प्रकृतियों को कम करने से आठवें गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का उदय होता है।

गुणस्थानों के बढ़ते क्रम के साथ आत्मा के परिणामों की विशुद्धता बढ़ती जाती है। अतः नौवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में संक्लिष्ट परिणाम रूप (काषायिक) प्रकृतियों का उदय होना भी न्यून से न्यूनतर होता जाता है। इसलिए आठवें गुणस्थान में उदययोग्य ७२ प्रकृतियों में से हास्यादिषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का आठवें गुणस्थान के चरम समय में उदयविच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान में सिर्फ ६६ प्रकृतियों का ही उदय होता है। यद्यपि ६६ प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान के प्रारम्भ में होता है लेकिन परिणामों की विशुद्धि क्रमशः बढ़ती ही जाती है, जिससे वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद तथा संज्वलनकषायत्रिक—संज्वलन क्रोध, मान और माया—कुल छह प्रकृतियों का उदय नौवें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है।[2] अतः

---

१. तुलना करो—

अपमत्ते सम्मत्तं अंतिमतिय संहुदी। —गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६८

२. नौवें गुणस्थान में वेदत्रिक आदि छह प्रकृतियों के उदयविच्छेद का क्रम इस प्रकार है—यदि श्रेणी का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद का, अनन्तर पुरुषवेद का और उसके बाद नपुंसकवेद का उदयविच्छेद करती है। अनन्तर क्रमशः संज्वलनत्रिक के उदय को रोकती है। यदि श्रेणी प्रारम्भ करने वाला पुरुष है तो वह सर्वप्रथम पुरुषवेद, पीछे स्त्रीवेद और उसके बाद नपुंसकवेद का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलनत्रिक का उदय रोकता है और श्रेणी को करने वाला यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसकवेद का उदय रोककर उसके बाद स्त्रीवेद के उदय को, तत्पश्चात् पुरुषवेद को रोककर क्रमशः संज्वलनत्रिक के उदय को रोकता है।

६६ प्रकृतियों में से वेदत्रिक और संज्वलनकषायत्रिक को कम करने पर दसवें गुणस्थान में साठ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य हैं।

दसवें गुणस्थान में उदययोग्य इन साठ प्रकृतियों में से संज्वलन लोभ का उदय अन्तिम समय में विच्छेद हो जाता है। अतः संज्वलन लोभ कषाय को कम करने से शेष ५९ प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में पाया जाता है और इन उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन इन दो संहननों का अन्त ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में हो जाता है।[1] क्योंकि उपशमश्रेणी ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और उस श्रेणी का आरोहण करने वाले आदि के तीनों संहनन वाले हो सकते हैं; किन्तु क्षपकश्रेणी वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला करता है। इसलिए बारहवें गुणस्थान में एक—वज्रऋषभनाराचसंहनन ही होता है और शेष रहे ऋषभनाराचसंहनन और नाराचसंहनन का ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान के बाद क्रमप्राप्त बारहवें—क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उसके अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम सहित तेरहवें—सयोगिकेवली गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या का निर्देश आगे की गाथा में करते हैं।

---

१. तुलना करो—

....अपुव्वम्हि।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टीभागभागेसु॥
वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमंते।
सुहुमो लोहो संते वज्जंणारायणारायं॥

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २६८-२६९

सगवन्न खीण दुचरमि निद्ददुगंतो य चरमि पणवन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

गाथार्थ—क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय रहता है । इन ५७ प्रकृतियों का उदय द्विचरम समय पर्यन्त पाया है और निद्राद्विक का अन्त होने से अन्तिम समय में ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है । पाँच ज्ञानावरण, पाँच अन्तराय और चार दर्शनावरण का अन्त बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है एवं सयोगिकेवली गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम व तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाई है ।

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि बारहवाँ गुणस्थान क्षपकश्रेणी का आरोहण करने वाले प्राप्त करते हैं और क्षपकश्रेणी का आरोहण करनेवाले वज्रऋषभनाराचसंहननधारी जीव होते हैं, अतः ऋषभनाराचसंहनन और नाराचसंहनन इन दो संहननों का ग्यारहवें गुणस्थान के चरम समय में अन्त हो जाता है और उसमें उदययोग्य ५९ प्रकृतियों में से उक्त दो प्रकृतियों को कम करने पर बारहवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का उदय माना जाना चाहिए । परन्तु इन ५७ प्रकृतियों का उदय भी द्विचरम समय अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय पर्यन्त पाया जाता है और अन्तिम समय में निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला का उदय व्युच्छिन्न होने से इन दो प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है ।[1]

---

१. कितने ही आचार्यों का मत है कि उपशान्तमोह गुणस्थान में ही निद्रा का उदय होता है, किन्तु विशुद्ध होने से क्षीणमोह गुणस्थान में उदय नहीं

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उक्त ५५ प्रकृतियों में से भी ज्ञानावरणपंचक—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, तथा अन्तरायपंचक—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय और दर्शनावरणचतुष्क—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता है ।[1] अतः तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में ४१ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जानी चाहिए थीं । लेकिन तेरहवें गुणस्थान की यह विशेषता है कि तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध करने वाले जीवों के इसका उदय इस गुणस्थान में होता है ।[2] अन्य गुणस्थानों में तीर्थङ्करनामकर्म का उदय नहीं होता है । अतः पूर्वोक्त उदययोग्य ४१ प्रकृतियों के साथ तीर्थंकरनामकर्म को मिलाने से कुल ४२ प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में माना जाता है ।

गाथा में तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की जो संख्या बतायी है उसमें तीर्थङ्करनामकर्म के उदय का संकेत आगे की गाथा में 'तित्थुदया' पद से किया गया है ।

अब आगे की गाथाओं में तेरहवें गुणस्थान में क्षय होने वाली और

होता है । उनके मतानुसार पहले से ही ५५ प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में होता है । छठे कर्मग्रन्थ में भी क्षीणमोह गुणस्थान में निद्रा का उदय नहीं बताया गया है ।

१. तुलना करो—

खीणकसायदुचरिमे णिद्दा पयला य उदयवोच्छिण्णा ।
णाणंतरायदसयं दंसणचत्तारि चरिमम्हि ॥

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २७०

२. तित्थं केवलिणि ।

चौदहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या तथा उसके भी चरम समय में अन्त होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

तित्थुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्तितिग छ संठाणा।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥
दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥
तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता।

गाथार्थ—तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म का उदय होता है। औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, खगतिद्विक, प्रत्येक-त्रिक, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माणनाम, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, पहला संहनन, दुःस्वरनाम, सुस्वर-नाम, साता-असाता वेदनीय में से कोई एक, कुल ३० प्रकृतियों का उदयविच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्त में हो जाने से सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक, त्रसत्रिक, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, जिननामकर्म और उच्चगोत्र—इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है। इसके बाद इनका भी अन्त हो जाता है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

तेरहवें गुणस्थान में ४२ प्रकृतियों का उदय रहता है। इनमें से ३० प्रकृतियों का इस गुणस्थान के अन्तिम समय में उदयविच्छेद हो जाता है। इन व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में साता और असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीयकर्म और शेष बची २९ प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी

(पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) हैं। इनमें से सुस्वर और दुःस्वर नामकर्म यह दो प्रकृतियाँ भाषा-पुद्गलविपाकिनी और शेष औदारिकद्विक आदि २७ प्रकृतियाँ शरीर-पुद्गलविपाकिनी हैं।

पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियाँ योग के सद्भाव रहने पर फल का अनुभव कराती हैं। इसलिए जब तक वचनयोग की प्रवृत्ति रहती है और भाषापुद्गलों का ग्रहण, परिणमन होता रहता है, तब तक ही सुस्वर और दुःस्वरनामकर्म का उदय सम्भव है और जब तक काय-योग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन लिया जाता है, तब तक औदारिक आदि २७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है। लेकिन तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में योगों का निरोध हो जाता है। इन अतः २९ प्रकृतियों का उदय भी उसी समय रुक जाता है।

गाथा में इन २९ प्रकृतियों में से किसी-किसी के तो स्वतन्त्र नाम दिये हैं और शेष प्रकृतियों को संज्ञाओं द्वारा बतलाया है। संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतियों के नाम ये हैं —

औदारिकद्विक—औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांगनामकर्म।

अस्थिरद्विक—अस्थिर, अशुभनामकर्म।

खगतिद्विक—शुभविहायोगति, अशुभविहायोगतिनामकर्म।

प्रत्येकत्रिक—प्रत्येक, स्थिर, शुभनामकर्म।

संस्थानषट्क—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडसंस्थान।

अगुरुलघुचतुष्क—अगुरुलघु, उपघात, पराघात और उच्छ्वास नाम।

वर्णचतुष्क—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शनाम।

उक्त संज्ञाओं के माध्यम से २३ प्रकृतियों के नाम बताये हैं और शेष छह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—निर्माण, तैजसशरीर, कार्मण-

शरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन, दुःस्वर और सुस्वरनाम। ये २३+६ कुल मिलाकर २९ प्रकृतियाँ हो जाती है।

इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में व्युच्छिन्न होने वाली ३० प्रकृतियों के नाम यह हैं—औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, अस्थिर, अशुभ, शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति, स्थिर, शुभ, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान, हुण्डसंस्थान, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, निर्माण, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन, दुःस्वर, सुस्वर तथा साता और असाता वेदनीय में से कोई एक।[1]

तेरहवें गुणस्थान में उदययोग्य ४२ प्रकृतियों में से इन ३० प्रकृतियों को कम करने पर शेष रही १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है। उनके नाम ये हैं—सुभग, आदेय, यशःकीर्तिनाम, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक[2], त्रस, बादर, पर्याप्त पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनाम और उच्चगोत्र।[3]

---

१. तुलना करो—

तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगदिउरालतेजदुगं।
संठाणं वण्णागुरुचउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥

—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २७१

२. चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीयकर्म की दोनों प्रकृतियों का एक साथ उदय नहीं होता है। अतः उन दोनों में से जिस प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदयविच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में पाया जाता है।

३. तुलना करो—

तदियेक्कं मणुवगदी पंचिदियसुभगतसतिगादेज्जं।
जसतित्थं मणुवाउ उच्चं च अजोगिचरिमम्हि ॥

— गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, २७२

इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है और इनका विच्छेद होते ही जीव कर्ममुक्त होकर पूर्ण सिद्धस्वरूप को प्राप्त कर अनन्त शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को चला जाता है[1] और 'स्वानुभूत्या चकासते' अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से सदैव प्रकाशमान रहता है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के उदय, उदय-विच्छेद का कथन करने के बाद अब आगे की गाथाओं में गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का वर्णन करते हैं।

उदउ-व्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥
एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाहारजुगल थीणतिगं।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

गाथार्थ—उदय के समान उदीरणा होती है; तथापि अप्रमत्तादि सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता है। उदीरणा तीन प्रकृतियों की कम होती है। वेदनीयद्विक, आहारकद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक और मनुष्यायु इन आठ का प्रमत्त गुणस्थान में अन्त हो जाता है और अयोगिकेवल भगवान किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में उदय और उदीरणा प्रकृतियों की संख्या में किस गुणस्थान तक समानता और किस गुणस्थान से आगे भिन्नता है, यह बतलाया है और उस भिन्नता को कारण सहित स्पष्ट करते हुए

---

१. मोक्ष की असाधारण कारणभूत पुण्योदयात्मक प्रकृतियां प्रायः चौदहवें गुणस्थान तक उदय में रहती हैं इसलिए वहाँ तक संसारी अवस्था मानी जाती है। अनन्तर सिद्धावस्था होती है अर्थात् एक भी कर्म उदय या सत्ता में नहीं रहता है। सत्ता में भी चौदहवें गुणस्थान में प्रायः यही १२ प्रकृतियां मानी जाती हैं।

चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में जैसे कर्मप्रकृतियों का उदय नहीं रहता है, वैसे ही कर्मों की उदीरणा का भी अभाव होना स्पष्ट किया है।

यद्यपि गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों की उदीरणा उदय के समान है। लेकिन यह नियम पहले—मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे—प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक समझना चाहिए, और आगे सातवें—अप्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर तेरहवें—सयोगिकेवली गुणस्थान तक—इन सात गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेषता होती है।

इस विशेषता का कारण यह है कि छठे गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियाँ ८१ बतलाई गई हैं और उसके अन्तिम समय में आहारकद्विक—आहारकशरीर और आहारकअंगोपांग तथा स्त्याद्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि—इन पाँच प्रकृतियों का विच्छेद होता है। लेकिन उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक—साता, असाता वेदनीय और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों का उदीरणा-विच्छेद भी होता है। छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं, जिससे वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृतियों की उदीरणा हो सके।[1] इसीलिए सातवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक उदययोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा उदीरणायोग्य तीन प्रकृतियाँ कम मानी जाती हैं।

उक्त कथन का यह आशय है कि पहले से छठे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय और उदीरणायोग्य प्रकृतियाँ समान हैं, किन्तु

---

१. संक्लिष्ट परिणामों से ही इन तीनों की उदीरणा होती है, इस कारण अप्रमत्तादि गुणस्थानों में इन तीनों की उदीरणा होना असम्भव है।

सातवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियों की अपेक्षा तीन-तीन प्रकृतियां उदीरणायोग्य कम होती हैं। अतः गुणस्थानों में उदय और उदीरणायोग्य प्रकृतियों की संख्या निम्न प्रकार समझनी चाहिए—

गुणस्थानक्रम	उदयप्रकृति संख्या	उदीरणाप्रकृति संख्या
१	११७	११७
२	१११	१११
३	१००	१००
४	१०४	१०४
५	८७	८७
६	८१	८१
७	७६	७३
८	७२	६९
९	६६	६३
१०	६०	५७
११	५९	५६
१२	५७ / ५५	५४ / ५२
१३	४२	३९
१४	१२	१२

बारहवें गुणस्थान की उदययोग्य ५७ प्रकृतियां हैं, जिनका उदय द्विचरम समय पर्यन्त माना जाता है। इसलिए पूर्वोक्त ५७ प्रकृतियों में से निद्राद्विक को कम करने से ५५ प्रकृतियों का उदय रहता है। इसलिए द्विचरम समय से पूर्व की ५७ प्रकृतियों में से वेदनीयद्विक और मनुष्यायु—इन तीन प्रकृति को कम करने पर उदीरणायोग्य प्रकृतियां ५४ और अन्तिम समय की उदययोग्य ५५ प्रकृतियों में से उक्त तीन

प्रकृतियों को कम करने पर ५२ प्रकृतियां उदीरणायोग्य रहती हैं। इसीलिए बारहवें गुणस्थान में क्रमशः उदययोग्य ५७ और ५५ तथा उदीरणायोग्य ५४ और ५२ प्रकृतियों को बतलाया है।

कर्मप्रकृतियों की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त ही समझना चाहिए। चौदहवें—अयोगिकेवली गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती है।[1] इस गुणस्थान में उदीरणा न होने का कारण यह है कि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, परन्तु चौदहवें गुणस्थान में योग का सर्वथा निरोध हो जाता है अतः इस गुणस्थान में कर्मों की उदीरणा भी नहीं होती है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मों की उदीरणा का कथन करके अब आगे की गाथाओं में कर्मों की सत्ता का लक्षण तथा किस गुणस्थान में कितनी कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है, आदि बतलाते हैं।

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५॥

गाथार्थ—बन्धादिक के द्वारा कर्मयोग्य जिन पुद्गलों ने अपने स्वरूप को प्राप्त किया है, उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को सत्ता कहते हैं। पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है, किन्तु दूसरे व तीसरे गुणस्थान में जिननामकर्म के सिवाय शेष १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—गाथा में सत्ता का लक्षण और पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सत्ता प्रकृतियों की संख्या तथा दूसरे, तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता न होने का संकेत किया है।

---

१. तुलना करो—
णत्थित्ति अजोगिजिणे उदीरणा उदयपयडीणं।
—गोम्मटसार, कर्मकाण्ड; २८०

'बन्धाई-लद्ध-अत्तलाभाणं' बन्धादिक द्वारा प्राप्त किया है आत्म-लाभ—आत्मस्वरूप—जिनने—जिन कर्मों ने—वे बन्धादिक के द्वारा स्वस्वरूप को प्राप्त हुए 'बन्धादिलब्धात्म-लाभानां—'कम्माण-कर्मणां' कर्मों की, 'ठिई-स्थितिः' स्थिति—कर्म परमाणुओं का अवस्थान, सद्भाव, विद्यमानता सत्ता कहलाती है। यहाँ 'बन्ध आदि' शब्द में आदि शब्द से संक्रमण आदि का ग्रहण कर लेवें। अर्थात् बन्ध के समय जो कर्मपुद्गल जिस कर्मस्वरूप में परिणत होते हैं, उन कर्मपुद्गलों का उसी कर्मस्वरूप में आत्मा के साथ लगे रहना तथा इसी प्रकार उन्हीं कर्मपुद्गलों का पूर्व स्वरूप को छोड़कर दूसरे कर्मस्वरूप में बदलकर आत्मा में संलग्न रहना सत्ता कहलाती है। इनमें प्रथम प्रकार की सत्ता को 'बन्धसत्ता' और दूसरे प्रकार की सत्ता को 'संक्रमणसत्ता' के नाम से समझना चाहिए।

आत्मा के साथ जब मिथ्यात्वादि कारणों से जो पुद्गलस्कन्ध संबद्ध हो जाते हैं, उस समय से उनको 'कर्म' ऐसा कहने लगते हैं और तब से उस कर्म की सत्ता मानी जाती है। जैसे कि नरकगति का बन्ध हुआ और उदय में आकर जब तक उसकी निर्जरा न हो जाए, तब तक नरकगतिनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि बन्ध द्वारा उन कर्मपुद्गलों ने नरकगतिनामकर्म के रूप में अपना आत्मस्वरूप प्राप्त किया है।

कदाचित् नरकगतिनामकर्मतिर्यंचगतिनामकर्म में संक्रमित हो जाए तो नरकगति ने जो बन्ध द्वारा स्वरूप प्राप्त किया था, उसमें तिर्यंचगतिनामकर्म का संक्रमण होने से तिर्यंचगति ने संक्रमण द्वारा अपना स्वरूप प्राप्त किया और उसकी सत्ता कायम रही। परन्तु नरकगतिनामकर्म की सत्ता जो बन्ध से उत्पन्न हुई थी, उसका संक्रमण हो जाने से उसकी सत्ता व्युच्छिन्न हो गयी। इसी प्रकार मिथ्यात्व की सत्ता बन्ध से होती है और सम्यक्त्वमोहनीय तथा मिश्रमोह-

नीय की सत्ता मिथ्यात्व की स्थिति और रस के अपवर्तन से नवीन ही होती है और परस्पर में संक्रमित होने से एक दूसरे की सत्ता नष्ट भी होती है।

सत्ता के दो भेद हैं—सद्भाव-सत्ता और सम्भव-सत्ता। अमुक समय में कितनी ही प्रकृतियों की सत्ता न होने पर भी भविष्य में उनके सत्ता में होने की सम्भावना मानकर जो सत्ता मानी जाती है, उसे सम्भवसत्ता कहते हैं और जिन प्रकृतियों की उस समय सत्ता होती है, उसे सद्भाव (स्वरूप) सत्ता कहते हैं।

जैसे कि नरकायु और तिर्यंचायु की सत्ता वाला उपशम श्रेणी को नहीं मांड़ता है। फिर भी ग्यारहवें गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। उसका कारण यह है कि पहले यदि देवायु अथवा मनुष्यायु बाँधी हो तो उस-उस की सद्भावसत्ता मानी जायगी परन्तु उक्त नरक और तिर्यंच—इन दो आयुओं की सद्भावसत्ता नहीं मानी जायगी। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर बाद में उन दो आयुओं को बाँधने वाला हो तो उस अपेक्षा से सत्ता मानने पर उसे सम्भव-सत्ता कहा जाता है।

सम्भव-सत्ता और सद्भाव-सत्ता में भी पूर्वबद्धायु और अबद्धायु ऐसे दो प्रकार होते हैं और उनमें भी पृथक्-पृथक् अनेक जीवों की अपेक्षा से और एक जीव की अपेक्षा तथा उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी के आधार से भी विचार किया जाता है और इन श्रेणियों में भी अनन्तानु- के विसंयोजक एवं अविसंयोजक के आश्रय से और क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व के आश्रय से भी विचार किया जाता है।

विसंयोजना करने वाले को विसंयोजक कहते हैं।[1] दर्शन-सप्तक

---

१. अनन्तानुबन्धीचतुष्क का क्षय हो, किन्तु मोहत्रिक सत्ता में हो, उसे विसंयोजना कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

की सात प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धीचतुष्क का क्षय हो और शेष तीन प्रकृतियों का क्षय नहीं हुआ हो, अर्थात् मिथ्यात्वमोहनीय कर्म सत्ता में होने से उसका उदय हो, तब पुनः अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क के बन्ध की सम्भावना बनी रहे, ऐसे क्षय को विसंयोजना कहते हैं। जिसका क्षय होने पर पुनः उस प्रकृति के बन्ध की सम्भावना ही न रहे उसे क्षय कहते हैं।

सत्तायोग्य १४८ कर्मप्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ६, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २८, (५) आयु ४, (६) नाम ९३, (७) गोत्र २, (८) अन्तराय ५।

इन सब भेदों ५+९+२+२८+४+९३+२+५ को मिलाने से कुल १४८ भेद हो जाते हैं।

यद्यपि १२२ प्रकृतियाँ उदययोग्य बतलाई हैं। लेकिन सत्ता में १४८ प्रकृतियों को कहने का कारण यह है कि उदय के प्रकरण में पांच बन्धनों और पाँच संघातनों की पृथक्-पृथक् विवक्षा नहीं करके उन दोनों की पाँच-पाँच प्रकृतियों का समावेश पांच शरीरनामकर्म में किया गया था। इसी प्रकार उदय के समय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म की एक-एक प्रकृति विवक्षित की गयी थी। परन्तु सत्ता के प्रकरण में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नामकर्म के क्रमश पांच, दो, पाँच और आठ भेद ग्रहण किये हैं।

इस तरह उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में बन्धननामकर्म और संघातननामकर्म के पाँच-पांच भेदों तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के सामान्य चार भेदों के स्थान पर इनके पूर्वोक्त बीस भेदों[1] को मिलाने

१. वर्ण—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल। गंध—सुरभि, दुरभि। रस—

से कुल १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं। इन कर्मप्रकृतियों के स्वरूप की व्याख्या पहले कर्मग्रन्थ से जाननी चाहिए।

सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियाँ हैं और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक में से दूसरे सासादन और तीसरे मिश्र गुणस्थान को छोड़कर शेष नौ गुणस्थानों में १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है। यह कथन योग्यता की अपेक्षा समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी जीव के एक समय में भुज्यमान और बद्धमान इन दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता नहीं हो सकती। परन्तु योग्यता सब कर्मों की हो सकती है, जिससे बन्ध-योग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है, उसका भी बन्ध और सत्ता हो सकती है। अर्थात् वर्तमान में कर्म की स्वरूपसत्ता न होने पर भी उस कर्म को भविष्य में बंधने की योग्यता की सम्भावना—सम्भव-सत्ता की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जाती हैं।

शंका—आठ कर्मों की १५८ उत्तरप्रकृतियों में नामकर्म की १०३ प्रकृतियाँ पहले बतलाई हैं और यहाँ सत्ता की १४८ प्रकृतियों में नामकर्म की ९३ प्रकृतियों को ग्रहण किया है।

समाधान—यहाँ नामकर्म के ९३ भेद लेने का कारण यह है कि शरीरनामकर्म के समान बन्धननामकर्म के भी पाँच भेद ग्रहण किये

तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर। स्पर्श—कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

पूर्वोक्त बन्धन, संघातन और वर्णचतुष्क—ये सभी नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। अतः इनके पूरे नामों को कहने के लिए प्रत्येक के साथ 'नामकर्म' यह शब्द जोड़ लेना चाहिए।

है। वैसे बन्धननामकर्म के १५ भेद होते हैं और जब पांच भेदों की बजाय उन १५ भेदों को ग्रहण किया जाय तो नामकर्म के १०३ भेद हो जायेंगे। तब १५८ कर्मप्रकृतियाँ सत्तायोग्य मानी जायेंगी।

शंका—मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं मानी जानी चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर सकता है। इसलिए जब मिथ्यात्वी तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध ही नहीं कर सकता है तो उसके तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता कैसे मानी जा सकती है?

समाधान—जिसने पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध कर लिया है और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पाकर तीर्थङ्कर नामकर्म को भी बांध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्यागकर मिथ्यात्व को अवश्य प्राप्त करता है, ऐसे जीव की अपेक्षा से ही पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। अर्थात् मनुष्य ने पूर्व में मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकायु का बन्ध किया हो और बाद में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध करे तो वह जीव मरते समय सम्यक्त्व का वमन कर नरक में जाय तथा वहाँ पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसके पहले अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यात्व रहता है। अतः वहाँ तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता मानी है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

दूसरे और तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव तीर्थङ्कर नामकर्म को नहीं बांध सकता है। क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व न होने कारण तीर्थङ्करनामकर्म नहीं बांधा जा सकता और इसी प्रकार तीर्थङ्कर नामकर्म को बांधकर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता है।

इसीलिए दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़कर १४७ प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है।

शंका—नरक और तिर्यंचायु का बन्ध करने वाला उपशमश्रेणी करता नहीं है तथा बन्ध और उदय के बिना आयुकर्म की सत्ता होती नहीं तथा छठे कर्मग्रन्थ में भी आयुकर्म के भांगे किये हैं, वहाँ ८, ६, १०, ११, गुणस्थानों में नरक और तिर्यंचायु की सत्ता नहीं बताई है तो फिर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता कैसे मानी जाती है?

समाधान—यद्यपि श्रेणी में नरक और तिर्यंचायु की सत्ता घटती तो नहीं है। फिर भी कोई जीव उपशमश्रेणी से च्युत होकर चारों गतियों का स्पर्श कर सकता है। अतः सम्भव-सत्ता की विवक्षा से यहाँ नरक और तिर्यंचायु की सत्ता की सम्भावना बतलाई जाती है। दर्शनमोहसप्तक को क्षय नहीं करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि वगैरह को १४८ प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है।

इस प्रकार सत्ता की परिभाषा और सामान्यतः पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सत्तायोग्य प्रकृतियों का कथन करने के बाद आगे की गाथाओं में चतुर्थ आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से प्रकृतियों की सत्ता का वर्णन करते हैं।

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियालसयं।
सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्त-सयमहवा ॥ २६ ॥

गाथार्थ—अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और नरक व तिर्यंचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की तथा सप्तक का क्षय हुआ हो तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—यद्यपि पहले की गाथा में दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई है और दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है। सामान्य की अपेक्षा यह कथन ठीक भी है। लेकिन चौथे से लेकर आगे के गुणस्थानों में वर्तमान जीवों के अध्यवसाय विशुद्धतर होने से कर्मप्रकृतियों की सत्ता कम होती जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर चौथे आदि से लेकर आगे के गुणस्थानों में सत्ता को समझाते हैं।

पंचसंग्रह का सिद्धान्त है कि अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क का विसंयोजन करने पर तथा नरक व तिर्यंच आयु का बन्ध न करने वाला जीव उपशमश्रेणी का प्रारम्भ करता है, यानी जो जीव अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क की विसंयोजना कर और देवायु को बाँधकर उपशमश्रेणी को करता है, ऐसे जीव को आठवें आदि चार गुणस्थानों में १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—इन सात प्रकृतियों का जिन्होंने क्षय किया है, उनकी अपेक्षा चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यह १४१ प्रकृतियों की सत्ता बिना श्रेणी वाले क्षायिक सम्यक्त्वी को समझना चाहिए तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरमशरीरी नहीं है, किन्तु जिनको मोक्ष के लिए जन्मान्तर लेना बाकी है, उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्मप्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिए। लेकिन जो चरमशरीरी क्षायिक सम्यक्त्वी हैं, उनको मनुष्य आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता ही है।

सारांश यह है कि श्रेणी नहीं मांड़ने वाले क्षायिक सम्यक्त्वी जीवों के चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में सामान्य से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है, यह कथन अनेक जीवों की अपेक्षा से है तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरमशरीरी नहीं हैं, ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा से भी १४१ प्रकृतियों की सत्ता उक्त चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में मानी गई है।

उपशमश्रेणी आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों तक मानी जाती है। अर्थात् यह चार गुणस्थान उपशमश्रेणी के होते हैं और उपशमश्रेणी अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क का विसंयोजन करने से तथा नरक और तिर्यंच आयु को नहीं बांधने वाले यानी सिर्फ देवायु का बन्ध करने वाले को होती है। अतः सामान्य से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क और नरक व तिर्यंचायु कुल छह प्रकृतियों को कम करने पर १४२ प्रकृतियों की सत्ता उपशमश्रेणी मांड़ने वाले जीवों को आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में मानी जाती है।

इस प्रकार चौथे से लेकर उपशमश्रेणी के गुणस्थानों पर्यन्त सामान्य से सत्ता प्रकृतियों का वर्णन करके अब क्षपकश्रेणी की अपेक्षा कर्मों की सत्ता का कथन आगे की गाथा में करते हैं।

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा।
सत्तग विणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

गाथार्थ—क्षपक जीवों की अपेक्षा से चार गुणस्थानों में नरक, तिर्यंच और देवायु—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ प्रकृतियों की तथा सप्तक के बिना १३८ प्रकृतियों की सत्ता अनिवृत्ति गुणस्थान के पहले समय तक होती है।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में उपशमश्रेणी की अपेक्षा से कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाई गई है। अब इस गाथा में क्षपकश्रेणी की अपेक्षा से कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणी को मांड़ने वाले हैं और चरमशरीरी हैं, अर्थात् अभी तो जो औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी ही हैं, लेकिन क्षपकश्रेणी को अवश्य ही मांड़ने वाले तथा इसी जन्म में मोक्ष पाने वाले हैं, उनको मनुष्यायु की ही सत्ता रहती है। अन्य तीन आयुओं की सत्ता नहीं रहती है और न उनकी सम्भव-सत्ता भी है। इसलिए इस प्रकार के क्षपक जीवों की अपेक्षा चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु को सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से कम करने पर १४५ कर्मप्रकृतियों की सत्ता होती है।

लेकिन अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय करने से जिन्हें क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त है और इस भव के बाद दूसरा भव नहीं करना है, ऐसे जीव चौथे गुणस्थान से ही क्षायिक सम्यक्त्वी होकर क्षपकश्रेणी करते हैं तो उन जीवों की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का क्षय होने से तथा वर्तमान मनुष्यायु के सिवाय शेष तीन आयु की भी सत्ता न होने से सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियों में से उक्त दस प्रकृतियों को कम करने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। यह १३८ प्रकृतियों की सत्ता चौथे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यन्त समझनी चाहिए।

परन्तु जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकते, अर्थात् अचरमशरीरी हैं, उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी, कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी और कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते

हैं। पच्चीसवीं गाथा में जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, सो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तथा औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए तथा छब्बीसवीं गाथा में जो १४१ प्रकृतियों की सत्ता कही है, वह क्षायिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को यद्यपि एक साथ सब आयुओं की सत्ता नहीं होता है, लेकिन उनकी सत्ता होना सम्भव रहता है, इसलिए उसको सब आयुओं की सत्ता मानी जाती है।

सारांश यह है कि सामान्य से १४८ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं और दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, लेकिन पहले और चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही है, वह सम्भव-सत्ता की अपेक्षा से मानी जाती है। क्योंकि उपशमश्रेणि मांड़ने वाले के ग्यारहवें गुणस्थान से गिरने की सम्भावना रहती है और जिस क्रम से गुणस्थान का आरोहण किया था, उसी क्रम से गिरते समय उन-उन गुणस्थानों को स्पर्श करते हुए पहले मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है। इसीलिए वर्तमान में चाहे गुणस्थान के अनुसार कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो, लेकिन शेष प्रकृतियों की सत्ता होने की सम्भावना से १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

लेकिन चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। वे सम्यग्-दृष्टि तीन प्रकार के होते हैं—उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि। जो सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करके सम्यक्दृष्टि वाले हैं, उन्हें उपशम-सम्यग्दृष्टि तथा मोहनीयकर्म की प्रकृतियों में से क्षययोग्य प्रकृतियों का क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों का उपशम करने से जो सम्यक्त्व

प्राप्त होता है और उस प्रकार के सम्यग्दृष्टि वाले जीव को क्षायो पशमिक सम्यग्दृष्टि कहते हैं। जिन्होंने सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त किया है, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

उक्त तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों में से उपशम और- क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तो उपशमश्रेणी और क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी को मांड़ते हैं। जो जीव क्षपकश्रेणी मांड़ने वाले हैं, वे तो सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन उपशम- श्रेणी वाले जीवों को यह सम्भव नहीं है; इसीलिए उनका पतन होना सम्भव है। श्रेणी का क्रम आठवें गुणस्थान से शुरू होता है।

लेकिन जिन जीवों ने अभी कोई श्रेणी नहीं मांड़ी है और अभी चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान में वर्तमान हैं, ऐसे जीव यदि क्षायिक सम्यक्त्वी हैं और इसी भव से मोक्ष प्राप्त करने वाले नहीं हैं तो अनन्ता- नुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक—कुल सात प्रकृतियों का क्षय होने से चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त उनके १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होना सम्भव रहता है, इसीलिए उनको सब आयुओं की सत्ता मानी जाती है। इसलिए चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्वी जीव को १४१ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

जो जीव वर्तमान काल में ही क्षपकश्रेणी कर सकते हैं और चरम- शरीरी हैं, लेकिन अभी अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय नहीं किया है, उन जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है और जिन्होंने उक्त अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि सात प्रकृतियों का क्षय कर दिया है, उन जीवों के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है

और यह सत्ता नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक पाई जाती है। लेकिन जो जीव वर्तमान जन्म में क्षपकश्रेणी नहीं कर सकते, यानी अचरमशरीरी हैं, उनमें से कुछ क्षायिक सम्यक्त्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिक सम्यक्त्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी भी होते हैं। इनमें से क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीवों की की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है।

इन १४८ प्रकृतियों में से जो जीव उपशमश्रेणी को प्रारम्भ करने वाले हैं और उपशमश्रेणी प्रारम्भ करने के लिए यह सिद्धान्त है कि जो अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क का विसंयोजन करता है तथा नरक व तिर्यंच आयु का जिसे बन्ध न हो वह उपशमश्रेणी प्रारम्भ कर सकता है, तो इस सिद्धान्त के अनुसार आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क तथा नरकायु और तिर्यंचायु—इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार मोक्ष की कारणभूत क्षपकश्रेणी वाले जीवों के नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग पर्यंत कर्मों की सत्ता बतलाई जा चुकी है। नौवें गुणस्थान के नौ भाग होते हैं। अतः आगे की दो गाथाओं में नौवें गुणस्थान के दूसरे से नौवें भाग पर्यंत आठ भागों में प्रकृतियों की सत्ता को बतलाते हैं।

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगल साहारं।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८॥
तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहिय सय कमसो।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

गाथार्थ— स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक,

स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियजातित्रिक और साधारण नामकर्म इन सोलह् प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान के प्रथम भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से दूसरे भाग में एक सौ बाईस प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन एक सौ बाईस प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क कुल आठ प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाने से तीसरे भाग में एक सौ चौदह् प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इसके बाद तीसरे से नौवें भाग तक क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यादि-षट्क, पुरुषवेद, संज्वलन् क्रोध, मान और माया का क्षय होने से एकसौ तेरह्, बारह्, छह्, पांच, चार और तीन प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

विशेषार्थ—नौवें गुणस्थान के नौ भाग होते हैं और इन नौ भागों में से पहले भाग में क्षपकश्रेणी की अपेक्षा से १३८ प्रकृतियों की सत्ता होने का कथन पहले की गाथा में हो चुका है। इन गाथाओं में उक्त गुणस्थान के शेष रहे दूसरे से नौवें भाग पर्यन्त कुल आठ भागों में क्रमशः क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम तथा सत्ता में रहने वाली प्रकृतियों की संख्या बतलाई है।

प्रथम भाग में जो १३८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई है, उनमें से स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रियजाति नाम, विकलेन्द्रियत्रिक तथा साधारणनाम इन सोलह् प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाने पर दूसरे भाग में १२२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

दूसरे भाग की इन १२२ प्रकृतियों की सत्ता में से अप्रत्याख्याना-वरणकषायचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क इन आठ प्रकृ-

तियों की सत्ता दूसरे भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से तीसरे भाग में ११४ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और उसके बाद तीसरे भाग के अन्तिम समय में नपुंसकवेद का क्षय होने से चौथे भाग में ११३ और इन ११३ प्रकृतियों में से स्त्रीवेद का क्षय चौथे भाग के अन्तिम समय में होने से ११२ प्रकृतियों की सत्ता पांचवें भाग में होती है तथा पाँचवें भाग के अन्त में हास्यषट्क का क्षय होने से छठे भाग में १०६ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। छठे भाग में सत्ता योग्य १०६ प्रकृतियों में से उसके अन्तिम समय में पुरुषवेद का अभाव होने से सातवें भाग में १०५ प्रकृतियाँ और सातवें भाग में जो १०५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य बतलाई हैं, उनमें से संज्वलन क्रोध का सातवें भाग के अन्तिम समय में क्षय हो जाता है। अतः आठवें भाग में १०४ प्रकृतियों की सत्ता तथा आठवें भाग की सत्तायोग्य १०४ प्रकृतियों में से आठवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन मान का क्षय हो जाने से नौवें भाग में १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

इस प्रकार नौवें गुणस्थान के अन्तिम भाग—नौवें भाग में १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और इस अन्तिम भाग—नौवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलन माया का भी क्षय हो जाता है। माया के क्षय होने से शेष रही हुई १०२ प्रकृतियाँ दसवें गुणस्थान में सत्तायोग्य रहती हैं। इसका कथन आगे की गाथा में किया जाएगा।

यह एक साधारण नियम है कि कारण के अभाव में कार्य का भी सद्भाव नहीं रहता है। अतः पहले के गुणस्थानों में जिन कर्मप्रकृतियों का क्षय हुआ, उनके बन्ध, उदय और सत्ता के प्रायः प्रमुख कारण मिथ्यात्व, अविरति और कषाय हैं। पूर्व-पूर्व के गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के गुणस्थानों में मिथ्यात्व आदि कारणों का अभाव होता जाता है। अतः जब ये मिथ्यात्वादि कारण नहीं रहे तो उनके सद्भाव

में बन्ध, उदय और सत्तारूप में रहने वाले कर्म भी नहीं रह पाते हैं, नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार नौवें गुणस्थान में सत्ता प्रकृतियों का कथन करने के पश्चात आगे की गाथा में दसवें और बारहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अन्त में क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसय दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥३०॥

गाथार्थ—(नौवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है तथा इसी गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय तक १०१ प्रकृतियों की और निद्राद्विक का क्षय होने से अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती और अन्तिम समय में दर्शनावरणचतुष्क तथा ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक का भी क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ—गाथा में क्षपक श्रेणी की अपेक्षा वर्णन किया गया है और क्षपक श्रेणी मांड़ने वाला दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। अतः दसवें के बाद बारहवें गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता आदि का कथन किया गया है।

दसवें गुणस्थान में १०२ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन १०२ प्रकृतियों में से अन्तिम समय में संज्वलन लोभ कषाय का क्षय हो जाने से बारहवें गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। लेकिन यह १०१ प्रकृतियों की सत्ता इस गुणस्थान में द्विचरम समय पर्यन्त ही

समझना चाहिए। इन १०१ प्रकृतियों में से निद्राद्विक—निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों का क्षय हो जाने से अन्तिम समय में ९९ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

बारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। अतः सत्तायोग्य प्रकृतियों में मोहनीयकर्म की प्रबलता से बंधने वाली, उदय होने वाली और सत्ता में रहने वाली कर्मप्रकृतियाँ नहीं रहती हैं। मोहनीयकर्म के कारण ही ज्ञानावरण, अन्तराय की पांच-पांच तथा दर्शनावरण की चक्षुदर्शनावरण आदि चार प्रकृतियाँ कुल १४ प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता की संभावना रहती है लेकिन मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय होने से उक्त १४ प्रकृतियों का भी बन्ध, उदय, सत्ता रूप में अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसलिए बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में दर्शनावरणचतुष्क—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवलदर्शनावरण, ज्ञानावरणपंचक—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण तथा अन्तरायपंचक—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-अन्तराय, कुल १४ प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

प्रतिबन्धक कारणों—कर्मों के नाश हो जाने से सहज चेतना के निरावरण होने पर आत्मा का स्व-स्वरूप केवल-उपयोग का आविर्भाव होता है। केवल-उपयोग का मतलब है सामान्य और विशेष—दोनों प्रकार का सम्पूर्ण बोध।[1] इस केवल उपयोग के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार कर्म हैं। इनमें मोहनीयकर्म मुख्य है। मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने के बाद ही बाकी के दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का क्षय होता है। इनके नष्ट होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है।[2] अतः

---

१. सामान्य उपयोग—केवलदर्शन, विशेष उपयोग—केवलज्ञान।

२. मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्त्वार्थसूत्र १०।१

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर बारहवें—क्षीणमोह गुणस्थान पर्यन्त सर्वप्रथम मोहनीयकर्म की अविनाभावी कर्मप्रकृतियों के उदय और सत्ता का विच्छेद बतलाकर अन्तिम समय में चार दर्शनावरण, पांच ज्ञानावरण और पांच अन्तराय की सत्ता का विच्छेद होना बताया है। इसी प्रकार बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उदयविच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों में भी उक्त १४ प्रकृतियां हैं।

इस प्रकार बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सत्तायोग्य ६६ प्रकृतियों में से दर्शनावरण आदि की १४ प्रकृतियों के क्षय हो जाने से तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।

अब आगे की गाथाओं में तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियों की संख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरसतणुबंधणसंघायण निमिणं ॥३१॥
संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥
बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय तेरस सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

गाथार्थ—सयोगि और अयोगि गुणस्थान के द्विचरम समय तक ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। उसके बाद देवद्विक, विहायोगतिद्विक, गन्धद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बन्धन और संघातन की पाँच-पाँच, निर्माणनाम, संहनन-षट्क, अस्थिरषट्क, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त-नाम, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येक व उपांग की तीन-तीन, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियों का क्षय चौद-

हवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाने से अन्तिम समय में मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यशःकीर्तिनाम, आदेयनाम, सुभगनाम, जिननाम, पंचेन्द्रियजातिनाम तथा साता अथवा असाता वेदनीय इन १३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इन १३ प्रकृतियों की सत्ता भी चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय हो जाने से आत्मा निष्कर्मा होकर मुक्त बन जाता है।

विशेषार्थ – उक्त तीनों गाथाओं में तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या और क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम संज्ञाओं आदि के द्वारा बतलाये गये हैं।

बारहवें गुणस्थान की सत्तायोग्य ६६ प्रकृतियों में से दर्शनावरण आदि की १४ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में ८५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य रहती हैं। ये ८५ प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अतिरिक्त चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय (अन्तिम समय से पहले) तक रहती हैं। इनमें से ७२ प्रकृतियाँ भी चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय हो जाने से अन्तिम समय में १३ प्रकृतियाँ ही सत्तायोग्य रहती हैं। उनका भी क्षय अन्तिम समय में हो जाने से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान की ८५ प्रकृतियाँ योगनिमित्तक बन्ध, उदय और सत्ता वाली हैं। बारहवें गुणस्थान तक मिथ्यात्व, अविरत, कषाय के निमित्त से बँधने वाली प्रकृतियों का क्षय हो जाता है और योग के कारण जिनकी सत्ता रहती है, वे तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में नष्ट होती हैं। इन योगनिमित्तक प्रकृतियों में भी अधिकतर काययोग से सम्बन्ध रखने वाली हैं और योगों का निरोध हो जाने से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में कुछ जीवविपाकी कुछ क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों के साथ मुख्य रूप से पुद्गलविपाकी

प्रकृतियों की सत्ता का नाश हो जाता है। क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम ये हैं—

(१) देवगति, (२) देवानुपूर्वी, (३) शुभविहायोगति, (४) अशुभ-विहायोगति, (५) सुरभिगन्ध, (६) दुरभिगन्ध, (७) कर्कशस्पर्श, (८) मृदुस्पर्श, (९) लघुस्पर्श, (१०) गुरुस्पर्श, (११) शीतस्पर्श, (१२) उष्ण-स्पर्श, (१३) स्निग्धस्पर्श, (१४) रूक्षस्पर्श, (१५) कृष्णवर्ण, (१६) नील-वर्ण, (१७) लोहितवर्ण, (१८) हारिद्रवर्ण, (१९) शुक्लवर्ण, (२०) कटुक-रस, (२१) तिक्तरस, (२२) कषायरस, (२३) अम्लरस, (२४) मधुररस, (२५) औदारिक, (२६) वैक्रिय, (२७) आहारक, (२८) तैजस्, (२९) कार्मणशरीर, (३०) औदारिकबन्धन, (३१) वैक्रियबन्धन, (३२) आहा-रकबन्धन, (३३) तैजस-बन्धन, (३४) कार्मणबन्धन, (३५) औदारिक-संघातन, (३६) वैक्रिय-संघातन, (३७) आहारकसंघातन, (३८) तैजस-संघातन, (३९) कार्मण-संघातन, (४०) निर्माण, (४१) वज्रऋषभनाराच-संहनन, (४२) ऋषभनराचसंहनन, (४३) नाराचसंहनन, (४४) अर्ध-नाराचसंहनन, (४५) कीलिकासंहनन, (४६) सेवार्तसंहनन, (४७) अस्थिर, (४८) अशुभ, (४९) दुर्भग, (५०) दुःस्वर, (५१) अनादेय, (५२) अयशःकीर्ति, (५३) समचतुरस्रसंस्थान, (५४) न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, (५५) सादिसंस्थान, (५६) वामनसंस्थान, (५७) कुब्जसंस्थान, (५८) हुंडसंस्थान, (५९) अगुरुलघु, (६०) उपघात, (६१) पराघात, (६२) उच्छ्वास, (६३) अपर्याप्त, (६४) प्रत्येक, (६५) स्थिर, (६६) शुभ, (६७) औदारिक-अंगोपांग, (६८) वैक्रिय-अंगोपांग, (६९) आहारक-अंगोपांग, (७०) सुस्वर, (७१) नीचगोत्र तथा (७२) साता या असाता वेदनीय में से कोई एक।[1]

---

१. इन प्रकृतियों में क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी प्रकृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार करना चाहिए—

चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में उपर्युक्त ७२ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से अन्तिम समय में निम्नलिखित १३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है—मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु, त्रसत्रिक—त्रस, बादर, पर्याप्त नाम, यशःकीर्ति, आदेयनाम, सुभग, तीर्थंकर, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रियजाति एवं साता या असाता वेदनीय में से कोई एक। शेष रही ये १३ प्रकृतियाँ भी ऐसी हैं कि जिनकी अयोगिकेवली भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति शुक्लध्यान में ध्यानस्थ होकर पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने जितने समय में क्षय करने से सर्वथा कर्ममुक्त हो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित अनन्त सुख का अनुभव करने से शान्तिमय, नवीन कर्मबन्ध के कारणभूत भावकर्मरूपी मैल से रहित, नित्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, अमूर्तत्व और अगुरुलघु—इन आठ गुणों सहित और कृतकृत्य, लोक के अग्रभाग में स्थित होकर सिद्ध कहलाने लगते हैं।

इस प्रकार गुणस्थानों में क्रम से कर्मबन्ध, उदय और सत्तायोग्य

क्षेत्रविपाकी—(जिस कर्म के उदय से जीव नियत स्थान को प्राप्त करे उसे क्षेत्रविपाकीकर्म कहते हैं।) देवानुपूर्वी।

जीवविपाकी—(जिस कर्म का फल जीवों में हो, उसे जीवविपाकीकर्म कहते हैं।) देवगति, शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, उच्छ्वास, अपर्याप्त, सुस्वर, नीचगोत्र, साता या असाता वेदनीय कर्म में से कोई एक।

पुद्गलविपाकी—(जिसका फल पुद्गल—शरीर में हो, उसे पुद्गलविपाकी कहते हैं।) गंधद्विक, स्पर्श-अष्टक, रसपंचक, वर्णपंचक, शरीरपंचक, बन्धनपंचक, संघातनपंचक, निर्माणनाम, संहननषट्क, अस्थिर, अशुभ, संस्थानषट्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, अंगोपांगत्रिक।

प्रकृतियों की संख्या और उन-उनके अन्तिम समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में सत्तायोग्य १३ प्रकृतियों के स्थान में १२ प्रकृतियों के क्षय होने का अभिमत स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं।

नरअणुपुव्वि विणा वा बारस चरिमसमयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

गाथार्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से मनुष्यापूर्वी को छोड़कर शेष बारह प्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षयकर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है तथा देवेन्द्रों से अथवा देवेन्द्रसूरि से वन्दित ऐसे भगवान् महावीर को नमस्कार करो।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में चौदहवें—अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में तेरह प्रकृतियों की सत्ता का क्षय होना बतलाया है। लेकिन इस गाथा में बारह प्रकृतियों की सत्ता के क्षय होने के मत का संकेत करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म की सत्ता चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में ही मनुष्यत्रिक में गर्भित मनुष्यगतिनामकर्म प्रकृति में स्तिवुकसंक्रम द्वारा संक्रान्त होकर नष्ट हो जाती है। अतः चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में उसके दलिक नहीं रहते हैं और शेष बारह प्रकृतियों का स्वजाति के बिना स्तिवुकसंक्रम[1] नहीं होने से उनके दलिक चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय

१. अनुदयवती कर्मप्रकृति के दलिकों को सजातीय और तुल्य स्थिति वाली उदयवती कर्मप्रकृति के रूप में बदलकर उनके दलिकों के साथ भोग लेना स्तिवुकसंक्रम कहलाता है।

में भी सत्ता में रहते हैं तथा जिनका उदय पहले से ही न हो, उनकी सत्ता द्विचरम समय में ही नष्ट हो जाती है। चारों आनुपूर्वीकर्म क्षेत्र-विपाकी हैं, अतः उनका उदय भव (मरण होने से इस जन्म के शरीर को छोड़कर दूसरे जन्म का शरीर धारण करने) की अन्तरालगति में

बद्ध कर्मों का अबाधाकाल समाप्त होने पर उदय में जो कर्म आते हैं, वह उदय दो प्रकार का है—

(१) रसोदय, (२) प्रदेशोदय।

बँधे हुए कर्मों का साक्षात् अनुभव करना रसोदय है। बँधे हुए कर्मों का अन्य रूप (अर्थात् दलिक तो जिन कर्मों के बाँधे हुए हैं, उनका रस दूसरे भोगे जाने वाले सजातीय प्रकृतियों के निषेक के साथ भोगा जाए, यानी जिसका रस स्वयं का विपाक न बता सके) से अनुभव, वह प्रदेशोदय कहलाता है। अन्य प्रकृति के साथ उदय होने का कारण यह है कि रसोदय होने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव—ये पाँच कारण हैं। उनमें से किसी एक या अधिक हेतुओं के अभाव में उस कर्म का रसोदय नहीं होता। उदाहरणतः किसी जीव ने मनुष्यगति में रहते हुए एकेन्द्रियजाति नामकर्म का बन्ध किया, अनन्तर विशुद्ध परिणामों से देवगतिप्रायोग्य बन्ध करके पंचेन्द्रियजाति का बन्ध किया व पंचेन्द्रियरूप से देवगति में उत्पन्न हो गया। एकेन्द्रियजाति का अबाधाकाल व्यतीत हुआ, परन्तु उस एकेन्द्रियजाति के रसोदय हेतु भवरूप कारण चाहिए, जिसका देव-गति में अभाव है, अतः वह कर्म रसोदय का अनुभव न कराके प्रदेशोदय को प्राप्त करता है। उदयोन्मुख कर्म निषेक को रसोदय का मार्ग न मिलने से उसके निषेक के दलिक अन्य मार्ग—प्रदेशोदय को ग्रहण करते हैं। इस प्रदेशोदय के होने में उन कर्मों का सहज परिणमन 'स्तिबुकसंक्रमण' को ग्रहण करता है। अर्थात् अनुदयवती प्रकृतियों के सजातीय उदयवती प्रकृतियों में संक्रान्त होने को स्तिबुकसंक्रमण कहते हैं—अपर नाम प्रदेशोदय भी कह सकते हैं।

ही होता है, भवस्थान—जन्मस्थान में नहीं होता है। अतः उदय का अभाव होने से अयोगि गुणस्थानवर्ती आत्मा के द्विचरम समय में ७३ प्रकृतियों का और अन्तिम समय में १२ प्रकृतियों का क्षय होता है। अर्थात् देवद्विक आदि पूर्वोक्त ७२ प्रकृतियाँ, जिनका उदय नहीं है, जिस प्रकार द्विचरम समय में स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयवती कर्मप्रकृतियों में संक्रान्त होकर क्षय हो जाती हैं, उसी प्रकार उदय न होने से मनुष्य-त्रिक में गर्भित मनुष्यानुपूर्वी प्रकृति भी द्विचरम समय में ही स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयवती प्रकृतियों में संक्रान्त हो जाती है। अतः द्विचरम समय में उदयवती कर्मप्रकृति में संक्रान्त मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता को भी चरम समय में नहीं मानना चाहिए। इसीलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में १३ प्रकृतियों के बजाय १२ प्रकृतियों का क्षय होना मानना चाहिए।

इस प्रकार चौदहवें गुणस्थान में सत्ता विच्छेद के मतान्तर का संकेत करने के बाद ग्रन्थकार ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं कि जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया है और जो देवेन्द्रों द्वारा अथवा देवेन्द्रसूरि द्वारा वन्दना किये जाते हैं, उन परमात्मा महावीर की सभी वन्दना करो।

गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता तथा उन-उनके अन्त में क्षय होने आदि की विशेष जानकारी परिशिष्ट में दी गई है।

परिशिष्ट

(१) कर्म : बन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण ।

(२) कालगणना : जैनदृष्टि ।

(३) तुलनात्मक मंतव्य ।

(४) बन्ध यन्त्र ।

(५) उदय यन्त्र ।

(६) उदीरणा यन्त्र ।

(७) सत्ता यन्त्र ।

(८) गुणस्थानों में बन्धादि विषयक यन्त्र ।

(९) उदय अविनाभावी प्रकृतियों का विवरण ।

(१०) कर्मप्रकृतियों का बंध निमित्तक विवरण ।

(११) सत्ता प्रकृतियों का विवरण ।

(१२) गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरण ।

कर्म बन्ध, उदय और सत्ता विषयक स्पष्टीकरण

बन्ध

नवीन कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। जीव के स्वभावतः अमूर्त होने पर भी संसारस्थ जीव शरीरधारी होने से कथंचित मूर्त है, उस अवस्था में कषाय और योग के निमित्त से अनादिकाल से मूर्त कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता आ रहा है। पुद्गल-वर्गणाएँ अनेक प्रकार की हैं, उनमें से जो वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत होने की योग्यता रखती हैं, जीव उन्हीं को ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशों के साथ संयोग सम्बन्ध के द्वारा विशिष्ट रूप से जोड़ लेता है। इनमें से कषाय के उदय के निमित्त से होने वाले कर्मबन्ध को सांपरायिक बन्ध और शेष को योगनिमित्तक (योगप्रत्ययिक) बन्ध कहते हैं। यहाँ कषाय शब्द से सामान्यतया मोहनीयकर्म को ग्रहण किया गया है।

बन्ध के कारणों में योग और कषाय (मोहनीयकर्म) मुख्य हैं। उनके कारण जिस गुणस्थान में जिस प्रकार के निमित्त होते हैं, वैसे कर्म बँधते हैं; जैसे—वेदनीयकर्म में से सातावेदनीय कर्मप्रकृति योग के निमित्त से बँधती है और असातावेदनीय कर्मप्रकृति के बन्ध में कषाय के सहकार की आवश्यकता होती है।

मोहनीयकर्म (कषाय) के निमित्त से होने वाले बन्ध के भी प्रमाद-सहकृत और अप्रमादसहकृत—ये दो भेद होते हैं। मोहनीयकर्म के सूक्ष्म-संपराय, बादरसंपराय तथा बादरसंपराय में भी निवृत्ति, अनिवृत्ति, यथाप्रवृत्ति, अपूर्वकरण, प्रत्याख्यानीय, अप्रत्याख्यानीय, अनन्तानुबन्ध-नीय, मिथ्यात्व आदि निमित्त बनते हैं तथा सम्यक्त्वसहकृत संक्लेश परिणाम भी बन्ध में निमित्तरूप होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन गुणस्थानों में जितने निमित्त सम्भव हैं, उस-उस गुणस्थान में उन निमित्तों से बंधने वाली सभी कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है। निमित्तों और उनसे बंधने वाली कर्मप्रकृतियों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **योग-निमित्तक**—सातावेदनीय। १

(२) **सूक्ष्मसंपराय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—दर्शनावरणचतुष्क, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, उच्चगोत्र, यशःकीर्तिनाम। १६

(३) **अनिवृत्तिबादरसंपराय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरुषवेद। ५

(४) **अपूर्वकरण निवृत्ति बादरसंपराय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—हास्य, रति, जुगुप्सा, भय, निद्रा, प्रचला, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय-जाति, शुभविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, वैक्रियशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, निर्माण, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास। ३३

(५) **यथाप्रवृत्ति अप्रमादभाव-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—आहारक-शरीर, आहारक-अंगोपांग। २

(६) **प्रमादभाव-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—शोक, अरति, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, असातावेदनीय, देवायु। ७

(७) **प्रत्याख्यानीयकषाय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—प्रत्याख्याना-वरण क्रोध, मान, माया, लोभ। ४

(८) **अप्रत्याख्यानीय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदा-रिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, वज्रऋषभनाराचसंहनन। १०

(९) **अनन्तानुबन्धीकषाय-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन, न्यग्रोधसंस्थान, सादिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान, नीचगोत्र, उद्योत, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद। २५

(१०) **मिथ्यात्व-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, हुंडकसंस्थान, आतप, सेवार्तसंहनन, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व। १६

(११) **सम्यक्त्व-सहकृत संक्लेशनिमित्तक**—तीर्थंकर नामकर्म। १

प्रत्येक गुणस्थान में बन्धयोग्य कौन-कौन सी प्रकृतियाँ होती हैं और कौन-सी नहीं, इसका कारण तथा बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से प्रत्येक प्रकृति का किस गुणस्थान तक बन्ध होता है, आदि की तालिका बनाने से गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध की विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

उदय-उदीरणा

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से स्थिति को पूर्ण करके कर्म का फल मिलना उदय कहलाता है। अर्थात् जिस समय कोई कर्म बंधता है, उस समय से ही उसकी सत्ता की शुरूआत हो जाती है और जिस कर्म का जितना अबाधाकाल है, उसके समाप्त होते ही उस कर्म के उदय में आने के लिए कर्म-दलिकों की निषेक नामक एक विशेष प्रकार की रचना होती है और निषेक के अग्रभाग में स्थित कर्म उदयावलिका में स्थित होकर फल देना प्रारम्भ कर देते हैं।

उदय में आने के समय के पूर्ण न होने पर भी आत्मा के करण-

विशेष से—अध्यवसायविशेष से कर्म का उदयावलिका में आकर फल देना उदीरणा कहलाती है।

कर्मोदय के विषय में यह विशेष रूप से समझ लेना चाहिए कि सम्यक्त्वमोहनीयकर्म का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक, तीर्थंकर नामकर्म का रसोदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में और प्रदेशोदय चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ हैं और उनके उदय के निमित्त लगभग निम्नलिखित हो सकते हैं। इन निमित्तों के साथ जोड़े गये अविनाभावी शब्द का अर्थ 'साथ में अवश्य रहने वाला' करना चाहिए।

(१) **केवलज्ञान-अविनाभावी प्रकृति**—तीर्थङ्करनामकर्म। १

(२) **मिश्रगुणस्थान-अविनाभावी**—मिश्रमोहनीय। १

(३) **क्षयोपशमसम्यक्त्व-अविनभावी**—सम्यक्त्वमोहनीय। १

(४) **प्रमत्तसंयत-अविनाभावी**—आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग। २

(५) **मिथ्यात्वोदय-अविनाभावी**—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतपनामकर्म, मिथ्यात्वमोहनीय। ५

(६) **जन्मान्तर-अविनाभावी**—नरकानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, देवानुपूर्वी। ४

(७) **अनन्तानुबन्धीकषायोदय-अविनाभावी**—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्थावर, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म। ९

(८) **अप्रत्याख्यानावरणकषायोदय-अविनाभावी**—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, वैक्रियशरीर, वैक्रिय-अंगोपांग, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्तिनाम। १३

(९) **प्रत्याख्यानावरणकषायोदय-अविनाभावी**—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योत नामकर्म। ८

(१०) **प्रमत्तभाव-अविनाभावी**—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि। ३

(११) **पूर्वकरण-अविनाभावी**—अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन, सेवार्तसंहनन। ३

(१२) **तथाविध संक्लिष्टपरिणाम-अविनाभावी**—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा। ६

(१३) **बादरकषायोदय-अविनाभावी**—पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया। ६

(१४) **अयथाख्यातचारित्र-अविनाभावी**—संज्वलन लोभ। १

(१५) **अक्षपक-अविनाभावी**—ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन। २

(१६) **छाद्मस्थिकभाव-अविनाभावी**—निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक। १६

(१७) **बादरकाययोग-अविनाभावी**—औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग, अस्थिर, अशुभ, शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, सादि-संस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जसंस्थान, हुण्डसंस्थान, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, निर्माण, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन। २७

(१८) **बादरवचनयोग-अविनाभावी**—दुःस्वर, सुस्वर नाम। २

(१९) **सांसारिकभाव-अविनाभावी**—सातावेदनीय, असातावेदनीय। २

(२०) **मनुष्यभव-अविनाभावी**—मनुष्यगति, मनुष्यायु। २

(२१) **मोक्षसहायक मुख्य पुण्यप्रकृतियाँ**—त्रस, बादर, पर्याप्त, पंचेन्द्रियजाति, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय, यशःकीर्तिनाम।

पूर्वोक्त उदय के निमित्तों में कितनेक मुख्य और दूसरे कितनेक उनके अन्तर्गत सहायक निमित्त भी होते हैं। जैसे कि प्रमत्तभाव के मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धीकषाय आदि बादर (स्थूल) कषाय के सम्भावित प्रत्येक निमित्त नौवें गुणस्थान तक होते हैं। सिद्धत्व को प्राप्त करने के अति निकट संसारी जीव में मनुष्यभव तथा केवलज्ञान अविनाभावी प्रकृतियों का भी समावेश होता है। इन निमित्तों का अभ्यासियों की सरलता के लिए यहाँ संकेत किया गया है।

उदय के समान उदीरणा समझना चाहिए और उसमें जिन प्रकृतियों की न्यूनाधिकता आदि बतलाई गई है, तदनुसार घटाकर समझ लेना चाहिए।

सत्ता

बन्धादिक द्वारा स्वरूपप्राप्त कर्मप्रकृतियों का जीव के साथ वर्तमान रहना सत्ता कहलाती है। सत्तायोग्य १४८ प्रकृतियाँ हैं। किस गुणस्थान तक कितनी-कितनी प्रकृतियों की सत्ता रहती है, इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से समझना चाहिए।

(१) **मिथ्यात्व गुणस्थान**—मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा के मुख्यतया दो भेद हैं—(१) अनादिमिथ्यात्वी, (२) सादिमिथ्यात्वी। जिन्होंने मिथ्यात्व के अतिरिक्त कभी भी अन्य गुणस्थान प्राप्त नहीं किया है, उन्हें अनादिमिथ्यात्वी कहते हैं। उनमें भी कितने ही जीव आगे के

गुणस्थान प्राप्त करने की योग्यता रखनेवाले होते हैं और कितनेक उस प्रकार की योग्यताविहीन होते हैं। उनको शास्त्रों में क्रमशः भव्य और अभव्य कहा है। इनके भी दो भेद हैं—उनमें कितनेक जीवों ने त्रस-पर्याय प्राप्त ही नहीं की है और कितनेक जीव त्रसपर्याय प्राप्त किये हुए होते हैं। उनमें भी कितने ही जीव उसी भव में आगामी भव की आयु का बन्ध किये हुए और बन्ध नहीं किये हुए—ये दो भेद वाले होते हैं। उन्हें पूर्वबद्धायुष्क और अबद्धायुष्क कहते हैं। सारांश यह है कि इनके निम्नलिखित भेद होते हैं—

(१) अनादिमिथ्यात्वी त्रसपर्याय अप्राप्त पूर्वबद्धायुष्क।

(२) अनादिमिथ्यात्वी त्रसपर्याय अप्राप्त अबद्धायुष्क।

(३) अनादिमिथ्यात्वी त्रसपर्याय-प्राप्त—पूर्वबद्धायुष्क।

(४) अनादिमिथ्यात्वी त्रसपर्याय-प्राप्त—अबद्धायुष्क।

इन चारों के भव्य और अभव्य की अपेक्षा से कुल आठ भेद हैं।

उक्त भेदों के द्वारा मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता समझने में सुविधा होगी। परन्तु प्रकृतियों की सत्ता समझने के पूर्व इतना समझ लेना चाहिए कि कभी भी त्रस पर्याय प्राप्त नहीं करने वालों को मनुष्यद्विक, नरकद्विक, देवद्विक, वैक्रियचतुष्क, आहारक-चतुष्क, नरकायु, मनुष्यायु, देवायु, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र और तीर्थङ्कर नामकर्म—इन इक्कीस प्रकृतियों की कभी भी सत्ता नहीं होती है तथा जो अनादिमिथ्यात्वी है, उन्हें सम्यक्त्वमोह-नीय, मिश्रमोहनीय, आहारकचतुष्क और तीर्थङ्कर नामकर्म इस सात प्रकृतियों की सत्ता होती ही नहीं है। एक जीव को अधिक से अधिक दो आयुकर्म की सत्ता होती है।

अब उक्त आठ भेदों में सत्ता विषयक विचार करते हैं—

(१-२) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-अप्राप्त, पूर्वबद्धायुष्क और अबद्धायुष्क अभव्य जीवों के पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों के सिवाय १२७ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं।

(३) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-प्राप्त, पूर्वबद्धायुष्क अभव्य जीव के भी अनादिमिथ्यात्वी होने से तद्विरोधी सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात प्रकृतियाँ सत्ता में होती ही नहीं हैं तथा पूर्वबद्धायुष्क होने से अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता और एक जीव की अपेक्षा विचार करने पर अन्य गति की आयु का बन्ध करने वाले जीव को १३९ प्रकृतियों की तथा तद्गति की आयु का बन्ध करने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-प्राप्त, अबद्धायुष्क अभव्य जीव के अनादि मिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात प्रकृतियाँ सत्ता में होती ही नहीं हैं तथा अबद्धायुष्क होने से भुज्यमान आयु सत्ता में होती है। अतः शेष तीन आयु भी सत्ता में नहीं रहती हैं। इस प्रकार दस प्रकृतियों के बिना बाकी की १३८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं।

(५-६) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-अप्राप्त, पूर्वबद्धायुष्क भव्य तथा अबद्धायुष्क भव्य जीवों को अभव्य जीवों के लिए कहे गये पहले व दूसरे दो भंगों के अनुसार ही कर्मप्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। अर्थात् उन अभव्य जीवों की तरह इन दोनों प्रकार के भव्य जीवों के भी १२७ प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

(७) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-प्राप्त, पूर्वबद्धायुष्क भव्य जीव के अनादिमिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात प्रकृतियों के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा से १४१ प्रकृतियों की तथा एक जीव की अपेक्षा विचार करने पर अन्य आयु का बन्ध करने वाले जीव के

१३९ प्रकृतियों की और उसी गति की आयु को बांधने वाले जीव को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) अनादिमिथ्यात्वी, त्रसपर्याय-प्राप्त, अबद्धायुष्क भव्य जीव की कर्मप्रकृतियों की सत्ता का विचार दो प्रकार से किया जाता है—(१) सद्भावसत्ता (२) संभवसत्ता।

जो जीव उसी भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले हैं और विद्यमान कर्मप्रकृतियों की सत्ता वाले हैं, उन दोनों प्रकार के जीवों का समावेश सद्भावसत्ता में और जिन जीवों के आयु बन्ध संभव है, उन जीवों का समावेश सम्भवसत्ता में होता है।

सद्भावसत्ता वाले जीवों के सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात तथा तीन आयु—इन दस प्रकृतियों के सिवाय १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनके सिर्फ भुज्यमान आयु ही होती है।

संभवसत्ता वाले जीवों में (१) अनेक जीवों की अपेक्षा चारों आयुओं को गिनने से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात प्रकृतियों से रहित १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। (२) एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १३९ प्रकृतियों की तथा (३) उसी गति की आयु बांधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार अनादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सत्ता बतलाने के अनन्तर अब सादिमिथ्यादृष्टि के कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं—

जो सम्यक्त्व प्राप्त करने के अनन्तर संक्लिष्ट अध्यवसाय के योग से गिरकर पहले गुणस्थान में आया हो, उसे सादिमिथ्यात्वी कहते हैं। इनमें से कितने ही श्रेणी से पतित और कितने ही सिर्फ सम्यक्त्व से पतित होते हैं। सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर जो यहाँ आते हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी की सत्ता नहीं

होती है, किन्तु तत्काल ही यहाँ उसका बन्ध होने से सत्ता भी होती है। अतः सभी जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायु वाले जीवों के १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अबद्धायु वालों को भी सभी जीवों की अपेक्षा से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इसका कारण यह है कि चारों गतियों में आयुकर्म का बन्ध नहीं करने वाले (अबन्धक) जीव होते हैं। अमुक एक गति की अपेक्षा से १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेष रूप से विचार करने पर इसके दस विभाग हो जाते हैं— (१) तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला (पूर्वबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (२) तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला (अबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (३) आहारकचतुष्क की सत्ता वाला (पूर्वबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (४) आहारकचतुष्क की सत्ता वाला (अबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (५) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित (पूर्वबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (६) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित (अबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (७) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय उद्वेलक (पूर्वबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (८) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय उद्वेलक (अबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, (९) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय उद्वेलक (पूर्वबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी, तथा (१०) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय उद्वेलक (अबद्धायु) सादिमिथ्यात्वी।

जिनको तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता होती है, उनको आहरकचतुष्क की सत्ता इस मिथ्यात्व गुणस्थान में होती ही नहीं है। उक्त दस भेदों में सत्ता इस प्रकार समझनी चाहिए।

(१) तीर्थंकरनामकर्म की सत्तासहित पूर्वबद्धायुष्क सादिमिथ्या-दृष्टि जीव के आहारकचतुष्क, तिर्यंचायु और देवायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) तीर्थंकरनामकर्म की सत्तासहित अबद्धायुष्क सादिमिथ्या-दृष्टि जीवों के नरकायु की ही सत्ता वाले होने से शेष तीन आयुकर्म और आहारकचतुष्क इन सात प्रकृतियों के सिवाय १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) आहारकचतुष्क की सत्तासहित पूर्वबद्धायुष्क सादिमिथ्या-दृष्टि जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्करनामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु बाँधने वाले को १४४ की तथा अन्य गति की आयु बाँधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारकचतुष्क की सत्तासहित अबद्धायु सादिमिथ्यात्वी जीव चारों गतियों में भिन्न-भिन्न आयुकर्म की सत्ता वाले होते हैं। अतः अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की सत्ता वाले होते हैं।

(५) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित पूर्व-बद्धायुष्क सादिमिथ्यात्वी जीवों में तीर्थंकरनामकर्म और आहारक-चतुष्क के बिना सभी जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति की आयु बाँधने वाले के १४० की और अन्य गति की आयु बाँधने वाले के १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(६) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्करहित अबद्धायुष्क सादिमिथ्यात्वी जीव चारों गतियों में भिन्न-भिन्न आयु की सत्ता वाले होने से अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता वाले होते हैं।

(७) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्करहित सम्यक्त्वमोहनीय के उद्वेलक पूर्वबद्धायुष्क सादिमिथ्यात्वी जीवों में सभी जीवों की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म, आहारकचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय १४२ प्रकृतियों की तथा एक जीव की अपेक्षा तद्गति की आयु का बन्ध करने वाले को १३९ प्रकृतियों की और अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(८) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय उद्वेलक अबद्धायुष्क सादिमिथ्यात्वी जीव चारों गतियों में होते हैं। इसलिए तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क व सम्यक्त्वमोहनीय के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(९) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्तारहित सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय उद्वेलक पूर्वबद्धायुष्क सादि मिथ्यात्वी जीव के अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय १४१ प्रकृतियों की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बांधने वाले के १३८ की और अन्य गति को बांधने वाले के १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(१०) तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्कविहीन, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय उद्वेलक अबद्धायुष्क सादिमिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गतियों में होने से अनेक जीवों की अपेक्षा सात प्रकृतियों के सिवाय १४१ प्रकृतियों की और एक जीव की अपेक्षा १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारकचतुष्क की सत्ता वाला सम्यक्त्वमोहनीय की सत्तासहित पहले गुणस्थान में होता है। तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला भी इसी

प्रकार है और सम्यक्त्वमोहनीय का उद्वेलन करने के बाद ही पहले गुणस्थान में मिश्रमोहनीय का उद्वेलन होता है।

जीव सामान्य की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता बतलाने के पश्चात् चार गतियों की अपेक्षा अनादि और सादि मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं। उनमें से अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा चारों गतियों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता का क्रम इस प्रकार है—

नरकगति—इस गति के जीव मनुष्य और तिर्यंच इन दो आयुयों को ही बांध सकते हैं। अतः उक्त दो आयु और भुज्यमान नरकायु ये तीन आयु अनेक जीवों की अपेक्षा से सत्ता में हो सकती हैं तथा अनादिमिथ्यात्वी के पहले कहे गये आठ भेदों में से त्रसपर्याय-प्राप्त ऐसे चार भेद ही यहाँ हो सकते हैं। अतः अनुक्रम से तीसरा, चौथा, सातवाँ और आठवाँ—इन चार भेदों की सत्ता नरकगति में पूर्वबद्धायुष्क को अनेक जीवों की अपेक्षा से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात तथा देवायु के बिना १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है। सम्भवसत्ता में भी उक्त कथनानुसार ही सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा १३९ की तथा अबद्धायुष्क को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति में अनादि मिथ्यात्वी के पूर्वोक्त आठों विकल्प हो सकते हैं और तदनुरूप ही सत्ता भी हो सकती है। परन्तु इतना विशेष है कि त्रसपर्याय-प्राप्त जीव तेजस्कायिक और वायुकायिक पर्याय को प्राप्त करता है, तब देवद्विक अथवा नरकद्विक का उद्वेलन करे तो अन्य गति में नहीं जाने वाला होने से तद्योग्य देव, मनुष्य और नरकायु तथा अनादिमिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात प्रकृतियाँ कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ प्रकृतियों की तथा पहले कहे गये देवद्विक अथवा नरकद्विक—

इन दो द्विकों में से बाकी रहे एक द्विक और वैक्रियचतुष्क—इन वैक्रियषट्क का उद्वेलन करने पर १३० प्रकृतियों की, उच्चगोत्र का उद्वेलन करने पर १२६ की और मनुष्यद्विक की उद्वेलना करे तो १२७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकायिक जीव नरकद्विक या देवद्विक का उद्वेलन करें तो अनादिमिथ्यात्वी होने से सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात और देव तथा नरक में जाने वाला नहीं होने से दो आयु इस प्रकार कुल नौ प्रकृतियों के बिना अनेक जीवों की अपेक्षा १३९ की सत्ता होती है। क्योंकि कोई नरकद्विक का उद्वेलन करे और कोई देवद्विक का उद्वेलन करे, परन्तु अनेक जीवों की अपेक्षा दोनों द्विक सत्ता में होते हैं। अमुक एक ही प्रकार के द्विक का उद्वेलन करें तो ऐसे जीवों की अपेक्षा १३७ प्रकृतियों की तथा पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा मनुष्यायु को बांधने वाले को १३७ की और तिर्यंचायु बांधने वाले और अबद्धायुष्क के १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि वैक्रियषट्क की उद्वेलना की हो तो १३७ के बदले १३१ और १३६ के बदले १३० प्रकृतियों की सत्ता होगी।

पूर्वोक्त सत्ता सिर्फ तेजस्कायिक, वायुकायिक में ही नहीं समझनी चाहिए, किन्तु वहाँ से निकलकर आये हुए अन्य तिर्यंचों में भी अपर्याप्त अवस्था में अल्पकाल तक रहती है। अतः वहाँ भी सम्भावना मानी जा सकती है। शेष रहे हुए तिर्यच जीवों के पहले कहे गये आठ विकल्पों में से तीसरे, चौथे, सातवें और आठवें विकल्प के अनुसार भी होती है।

मनुष्यगति—इस गति में अनादिमिथ्यात्वी के पूर्वोक्त आठ विकल्पों में से तीसरा, चौथा, सातवां और आठवां ये चार विकल्प सम्भव हैं, अतः उसी के अनुसार प्रकृतियों की सत्ता समझ लेनी

चाहिए। परन्तु जो नरकद्विक अथवा देवद्विक की उद्वेलना करते हैं, उनके सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात तथा उनके अबद्धायु वाले होने से शेष तीन आयु, कुल बारह प्रकृतियों के सिवाय एक जीव की अपेक्षा १३६ की, अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की तथा वैक्रियषट्क और पूर्वोक्त द्विक की उद्वेलना की हो तो १३० प्रकृतियों की भी सत्ता अल्प काल के लिए हो सकती है।

देवगति—इस गति वाले जीव नरकगति में नहीं जाते हैं। अतः तद्योग्य आयु का बन्ध करते ही नहीं हैं और अनादिमिथ्यात्वी हों तो सम्यक्त्वमोहनीय आदि सात—कुल आठ प्रकृतियों के सिवाय पूर्वबद्धायुष्क को अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अबद्धायुष्क को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अब सादिमिथ्यात्वी की अपेक्षा चारों गतियों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

नरकगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्ध-आयु वाले के देवायु का बन्ध न होने से १४७ की तथा एक प्रकार की आयु बांधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अबद्ध-आयु वाले के अनेक जीवों की अपेक्षा ४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाला पहले गुणस्थान में नरकगति में अबद्धायुष्क ही हो तो उसे आहारकचतुष्क, देव, मनुष्य, और तिर्यंच आयु—ये सात प्रकृतियां सत्ता में नहीं होने से १४१ की और आहारकचतुष्क की सत्ता वाले पूर्वबद्धायुष्क के अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायुष्क के १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्ता से रहित बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की, एक जीव की अपेक्षा १४१ की और अबद्धायष्क के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनमें भी

सम्यक्त्वमोहनीय के उद्वेलक को बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ की, एक जीव की अपेक्षा १४० की तथा अबद्धायुष्क के १३९ की तथा मिश्रमोहनीय के उद्वेलक को बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की और एक जीव की अपेक्षा १३९ की और अबद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति में तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता होती ही नहीं है। अतः अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १४४ की और अन्य गति को बाँधने वाले के १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारकचतुष्क की सत्तारहित बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति को बाँधने वाले के १४१ की तथा अबद्धायुष्क के भी १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है। सम्यक्त्व-मोहनीय का उद्वेलन करने वाले बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की, एक जीव की अपेक्षा उसी गति का बन्ध करने वाले के १३९ की और अन्य गति का बन्ध करने वाले के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा मिश्रमोहनीय उद्वेलक बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की तथा अन्य गति की आयु बाँधने वाले एक जीव की अपेक्षा १३९ की एवं उसी गति की आयु बाँधने वाले के १३८ की तथा अबद्धायुष्क को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तेजस्कायिक, वायुकायिक में यदि आहारकचतुष्क का उद्वेलन करे तो १४० की तथा सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना करे तो १३९ की और उसके बाद यदि मिश्रमोहनीय की उद्वेलना करे तो १३८ की और तदनन्तर देवद्विक अथवा नरकद्विक की उद्वेलना करे तो १३६ प्रकृतियों की व अनेक जीवों की अपेक्षा १३८ की सत्ता होती है और उसके बाद वैक्रियषट्क के घटाने पर १३० की, उच्चगोत्र कम

करने पर १२६ की और मनुष्यद्विक को कम करने पर १२७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

उक्त सत्ता तेजस्कायिक, वायुकायिक में से आये हुए अन्य तिर्यंचों के भी अल्पकाल के लिए होती है। अन्य स्थावरों को १३० प्रकृतियों की सत्ता तेजस्कायिक और वायुकायिक में से न भी आये हों तो भी होती है तथा १३० प्रकृतियों की सत्ता वाला मनुष्यायु का बन्ध करे तो १३१ प्रकृतियों की भी सत्ता होती है।

मनुष्यगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा बद्धायुष्क को १४८ की एवं एक ही गति की आयु बांधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा उसी गति को बांधने वाले ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायुष्क के भी १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारकचतुष्क की सत्ता वालों को पूर्वबद्धायु अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और तद्गति की आयु को बांधने वाले को १४४ की एवं अन्य गति को बांधने वाले को १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्वमोहनीय का उद्वेलन करने वाला बद्धायुष्क हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्करनामकर्म, आहारकचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय के बिना १४२ की एवं एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु का बन्ध करने वाले को १४० की तथा उसी गति का बन्ध करने वाले को १३९ की और अबद्धायुष्क को भी १३९ की तथा देवद्विक या नरकद्विक की उद्वेलना की हो तो बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकचतुष्क के सिवाय १४३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना करे तो १४२ की तथा नरक-

द्विक या देवद्विक की उद्वेलना करे तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ की और दोनों द्विकों में से एक द्विक की उद्वेलना की हो तो अनेक जीवों की अपेक्षा १४० की तथा उसी गति का बन्ध करने वाले को १३७ की और अन्य गति को बांधने वाले के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। जिस प्रकार अनेक जीवों की अपेक्षा अनुक्रम से १३८ और १३९ प्रकृतियों की सत्ता कही गयी है, उसी प्रकार मिश्रमोहनीय की उद्वेलना करने वाले को (जहाँ १४२, १४०, १३८ और १३७ की सत्ता होती है, ऐसा कहा है, वहाँ) १४१, १३९, १३७, और १३६ की सत्ता समझनी चाहिए।

देवगति—इस गति में अनेक जीवों की अपेक्षा विचार करें तो तीर्थंकर नामकर्म और नरकायु—इन दो के सिवाय इस गुणस्थान में १४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ की तथा आहारकचतुष्क की सत्ता से रहित बद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४२ और एक जीव की अपेक्षा १४१ की एवं अबद्धायुष्क को १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में अनादिमिथ्यादृष्टि और सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा १२७, १२९, १३०, १३१, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८ इन सत्रह सत्तास्थानों का विचार किया गया। अब दूसरे सासादन गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता का वर्णन करते हैं।

(२) **सासादन गुणस्थान**—इस गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता के बारे में यह विशेष रूप से समझना चाहिए कि—

(१) इस गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं होती है।

(२) जिनके देवद्विक, नरकद्विक और वैक्रियचतुष्क सत्ता में हों वे ही इस गुणस्थान में आते हैं तथा आहारकचतुष्क की सत्ता वाले भी आते हैं।

(३) यह गुणस्थान ऊपर से नीचे गिरने वाले को ही होता है।

इस गुणस्थान में सामान्य से पूर्वबद्धायु और अबद्धायु—इन दो प्रकार के जीवों के द्वारा सत्ता का कथन किया जाएगा। उनमें भी आहारकचतुष्क की सत्ता वाले और आहारकचतुष्क की सत्तारहित—इस प्रकार चार भेद हो जाते हैं।

इन भेदों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता इस प्रकार है—

(१) आहारकचतुष्क की सत्तासहित पूर्वबद्धायुष्क सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४५ की और उसी गति की आयु बांधने वाले को १४४ की और अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारकचतुष्क की सत्तासहित अबद्धायुष्क सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) आहारकचतुष्क की सत्तारहित पूर्वबद्धायुष्क सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की, एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४१ की तथा उसी गति की आयु बांधने वाले को १४० की तथा अनेक जीवों की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(४) आहारकचतुष्क की सत्तारहित अबद्धायु सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की और एक जीव की अपेक्षा १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सामान्य से कथन करने के बाद अब गतियों की अपेक्षा सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीवों को प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

नरकगति—अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क के १४६ की, एक जीव की अपेक्षा १४५ की और अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। आहारकचतुष्क की सत्ता न हो तो अनुक्रम से १४२, १४१, और १४० की सत्ता होती है।

नरकगति के अनुसार ही तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति में भी सास्वादन गुणस्थान वाले जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

इस प्रकार सास्वादन गुणस्थान में १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, और १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) **मिश्रगुणस्थान**—सास्वादन गुणस्थान के अनुसार ही इस गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। लेकिन इतना अन्तर है कि सास्वादन गुणस्थान ऊपर के गुणस्थानों से गिरने वाले को ही होता है, जबकि मिश्रगुणस्थान चढ़ने वाले जीवों को भी होता है।

मिश्रगुणस्थान में आहारकचतुष्क की सत्तारहित और आहारक-चतुष्क की सत्तारहित—इन दो भेदों के द्वारा प्रकृतियों की सत्ता को स्पष्ट करते हैं।

(१) आहारकचतुष्क की सत्तासहित मिश्रगुणस्थानवर्ती जीचों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क के १४७ की और अन्य एक ही प्रकार की गति की आयु को बांधने वाले जीवों की अपेक्षा १४५ की और उसी गति की आयु को बांधने वाले अनेक जीवों की अपेक्षा १४५ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा जिन्होंने अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क की विसंयोजना की हो तो उनके लिए चार प्रकृतियां कम गिननी चाहिए, अर्थात् १४७, १४५, १४४ के

बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। आहारकचतुष्क की सत्तावालों के इस गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय अवश्य सत्ता में होती है। अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव की अपेक्षा १४४ की तथा विसंयोजना करने वालों को क्रमशः १४३ की और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(२) आहारकचतुष्क की सत्तारहित मिश्र गुणस्थानवर्ती जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४३ की, अबद्धायुष्क को १४३ की तथा एक जीव की अपेक्षा बद्धायुष्क को १४० की तथा अबद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पहले गुणस्थान में सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना करने के बाद मिश्रमोहनीय की उद्वेलना करके इस गुणस्थान में आये तो उसकी अपेक्षा एक-एक प्रकृति कम होती है। अर्थात् पहले जहाँ १४३, १४१ और १४० की सत्ता कही जाती है, वहाँ अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अनन्तानुबन्धीकषायचतुष्क की विसंयोजना करने वाले को चार प्रकृतियाँ कम समझनी चाहिए। अर्थात् जहाँ १४३, १४१ और १४० की सत्ता कही गई है, वहाँ अनुक्रम से १३९, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की सत्तारहित को अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं होती है। क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना मिथ्यात्व की सत्ता रहने पर पहले गुणस्थान में ही होती है और वहाँ अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं होती है परन्तु वहाँ उस सत्ताहीन वाले के भी उसकी सत्ता होती है और ऐसे जीव मिश्रमोहनीय की उद्वेलना कर कदाचित मिश्र गुणस्थान में आते हैं और विसंयोजक तो ऊपर के गुणस्थान से आते हैं और वहाँ मिथ्यात्व की सत्ता होने

पर भी सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना करने वाला विसंयोजक नहीं होता है।

अब चारों गतियों की अपेक्षा मिश्र गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

नरकगति—इस गति में सत्ता तो पूर्वोक्त क्रमानुसार ही होती है; परन्तु इस गति में देवायु की सत्ता नहीं होती है। अतः जहाँ देवायु को गिना गया हो, वहाँ एक प्रकृति कम गिननी चाहिए। जैसे कि अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई गई है, उसकी बजाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता माननी चाहिए।

इसी प्रकार तिर्यंचगति और मनुष्यगति में भी प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। देवगति में यह विशेषता समझनी चाहिए कि इस गति में नरकायु की सत्ता नहीं होती है, किन्तु देवायु की सत्ता होती है। शेष नरकगति के अनुसार समझना चाहिए।

इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ ये सत्तास्थान होते हैं।

(४) **अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान**—इस गुणस्थान में सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को सामान्यतः १४६ की और अपनी ही गति की आयु बांधने वाले को १४५ प्रकृतियों की सत्ता है।

सामान्यतः पूर्वोक्त सत्ता तो सभी प्रकार के सम्यक्त्वी जीवों की अपेक्षा कही है। परन्तु सम्यक्त्व के भेदानुसार सत्ता का विचार करने पर तो उपशमसम्यग्दृष्टि, क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि—इन तीन प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों की अपेक्षा सत्ता का विचार करना पड़ेगा।

उक्त सम्यग्दृष्टि के तीन भेदों में से सबसे पहले उपशम सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों की सत्ता का विचार करते हैं।

उपशम सम्यग्दृष्टि जीव के दो भेद हैं—(१) अविसंयोजक, (२) विसंयोजक।

अविसंयोजक—अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क जीवों के १४८ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति के बद्धायुष्क को १४६ की तथा उसी गति की आयु बांधने वाले को १४५ की और अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ तथा एक जीव की अपेक्षा १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहाँ यह विशेष समझना चाहिए कि जिनके तीर्थङ्करनामकर्म सत्ता में न हो तो उनके एक प्रकृति कम समझना चाहिए। अर्थात् १४८, १४६ और १४५ के बदले क्रमशः १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों का कथन करना चाहिए। यदि आहारकचतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के बदले १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता समझना और तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकचतुष्क सत्ता में न हों तो अनुक्रम से १४८, १४६ और १४५ के बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

विसंयोजक—अनन्तानुबन्धीचतुष्क सत्ता में न हो किन्तु उसका मूल कारण मिथ्यात्व सत्ता में हो तो भी उसे विसंयोजक कहते हैं। अतः पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धीचतुष्क के विना शेष १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४२ की और उसी गति की आयु बांधने वाले को १४१ की तथा अबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४४ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यहाँ यह विशेष समझना चाहिए कि तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता न

हो तो १४४, १४२ और १४१ के बदले क्रमश: १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता तथा आहारकचतुष्क की सत्ता न हो तो १४४, १४२ और १४१ के बदले क्रमश: अनुक्रम से १४०, १३८ और १३७ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। यदि तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकचतुष्क कुल पांच प्रकृतियों की सत्ता न हो तो १३९, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

अब क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के दो प्रकार हैं—(१) विसंयोजक, (२) अविसंयोजक। इनके भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि की बतलाई गई सत्ता के अनुसार प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। किन्तु जब अनन्तानुबन्धी-चतुष्क की सत्ताविहीन आत्मा मिथ्यात्वमोहनीय की उद्वेलना कर डालती है, तब पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४३ की; एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४१ की और उसी गति की आयु बांधने वाले को १४० की तथा अबद्धायुष्क को भी १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता न हो तो १४३, १४१ और १४० की बजाय अनुक्रम से १४२, १४० और १३९ की और आहारकचतुष्क सत्ता में न हो तो १४३, १४१ और १४० के बदले १३९, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-चतुष्क—कुल ये पांच प्रकृतियां सत्ता में न हों तो १४३, १४१ तथा १४० के बदले १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि उपर्युक्त सभी विकल्प वालों ने मिश्रमोहनीय की उद्वेलना की हो तो उनके अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र-मोहनीय के बिना अनेक जीवों को अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४२ की,

एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १४० की तथा उसी गति की आयु बांधी हो तो १३९ की व अबद्धायुष्क को भी १३९ की सत्ता होती है। जिसको तीर्थङ्कर नामकर्म की सत्ता न हो, उसे अनुक्रम से १४१, १३९ और १३८ की सत्ता तथा आहारकचतुष्क न हो तो क्रमशः १३८, १३६ और १३५ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। आहारकचतुष्क और तीर्थङ्करनामकर्म ये पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४२, १४० और १३९ के बदले क्रमशः १३७, १३५ और १३४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अब क्षायिक सम्यक्त्वी की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में प्रकृतियों की सत्ता बतलाते हैं।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि को अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४१ की और एक जीव की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधने वाले को १३९ की और उसी गति की आयु बांधने वाले को १३८ की तथा अबद्धायुष्क को भी १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता न हो तो १४१, १३९ और १३७ के बदले क्रमशः १४०, १३८ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारकचतुष्क सत्ता में न हो तो १४१, १३९ और १३८ के बदले १३७, १३५ और १३४ की तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकचतुष्क कुल पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १४१, १३९ और १३८ के बदले क्रमशः १३६, १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक आदि तीनों प्रकार के सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों की सत्ता बतलाने के अनन्तर अब गतियों की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

नरकगति—इस गति की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। जैसे कि इस गति के जीवों के देवायु की सत्ता नहीं होती है। जिनको तीर्थंकर-

नामकर्म की सत्ता होती है, उनके आहारकचतुष्क की सत्ता नहीं होती है और जिनके आहारकचतुष्क की सत्ता होती है, उनको तीर्थंकर-नामकर्म की सत्ता नहीं होती है। क्षायिकसम्यक्त्व नवीन प्राप्त नहीं करते हैं तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की उद्वेलना नहीं करते हैं। यदि पूर्वभव में सम्यक्त्वमोहनीयकर्म की उद्वेलना करते समय मरण हो और पूर्व में नरकायु का बन्ध किया हो तो नरकगति में आकर उद्वेलना की क्रिया पूरी करते हैं। इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय के उद्वेलक होते हैं किन्तु उद्वेलना करने की क्रिया की शुरूआत नहीं करते हैं।

इस गति के उपशम सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वालों में पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु की सत्ता न होने से १४७ की और यदि एक ही प्रकार की आयु का बन्ध किया हो तो ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा १४६ की तथा अबद्धायुष्क को १४५ की एवं तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाले ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु और आहारकचतुष्क के बिना पूर्वबद्धायु वालों के १४३ की, एक जीव की अपेक्षा १४२ की और अबद्धायुष्क के १४१ की और आहारकचतुष्क की सत्ता वाले पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म और देवायु के सिवाय १४६ की और एक जीव की अपेक्षा १४५ की तथा अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यदि तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क सत्ता में न हो तो पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म, आहारक-चतुष्क और देवायु इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ की और एक जीव की अपेक्षा १४१ की तथा अबद्धायुष्क के १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

ये जीव विसंयोजक नहीं होते हैं। क्योंकि उपशमश्रेणी का उप-

शम सम्यक्त्व जिनको होता है वे उपशम सम्यक्त्वी विसंयोजक हो सकते हैं। अन्य जीव उपशम सम्यक्त्व में विसंयोजक नहीं होते हैं। नरकगति के जीवों के तीन करण करने से ही नवीन उपशमसम्यक्त्व होता है, परन्तु श्रेणी वाला नहीं होता है। अतः वे विसंयोजक नहीं होते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव अविसंयोजक और विसंयोजक--दो प्रकार के होते हैं। उपशम सम्यग्दृष्टि को बतलाई गई सत्ता के अनुसार इन जीवों के सत्ता समझना चाहिए। परन्तु यह विशेषता है कि जो जीव सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना कर यहाँ आये हों तो ऐसे अनेक जीवों की अपेक्षा देवायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मिथ्यात्वमोहनीय और अनन्तानुबन्धीचतुष्क ये प्रकृतियाँ सत्ता में नहीं होती हैं। क्योंकि उनके आगामी भव की आयु का बन्ध अपनी आयु के छह माह बाकी रहें तब होता है। जब सम्यक्त्वमोहनीय का उद्वेलन करते हुए मरकर आया हुआ जीव अल्प समय में ही क्षायिक सम्यक्त्वी होता है। (यद्यपि 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी सम्यक्त्व-वमन करने के बाद ही नरकगति में आता है', ऐसा कहा गया है, परन्तु सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वेलना करनेवाला सम्यग्दृष्टि चारों गति में जाता है, ऐसा छठे कर्मग्रन्थ में भी कहा गया है, उससे किसी प्रकार का विसंवाद नहीं समझना चाहिए। किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय आदि प्रकृतियों की उद्वेलना करने वाला क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करने की तैयारी करता है और उसकी अपेक्षा उसे भी क्षायिक सम्यक्त्वी कहा जाता है।)

इसलिए सम्यक्त्वमोहनीय के उद्वेलक ऐसे सब नारकी जीवों की अपेक्षा १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। एक जीव की अपेक्षा आहा-रकचतुष्क की सत्तारहित तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाले को १३५

की तथा तीर्थंकरनामकर्म की सत्तारहित आहारकचतुष्क की सत्ता वाले के १३८ की सत्ता होती है। परन्तु तीर्थंकरनामकर्म तथा आहारकचतुष्क की सत्ता से रहित जीवों के १३४ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी अविरतसम्यग्दृष्टि नारकी जीवों के दर्शनसप्तक सत्ता में होता ही नहीं है तथा चौथे गुणस्थान से कभी भी नहीं गिरने के कारण मनुष्यायु का ही बन्ध करते हैं। अतः शेष तीन आयु उनको होती ही नहीं हैं। इसलिए उक्त नौ प्रकृतियों के सिवाय अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क जीवों के १३९ की और अबद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकरनामकर्म की सत्तारहित जीव पूर्वबद्धायुष्क हों तो १३८ की तथा अबद्धायुष्क हों तो १३७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाले हों तो आहारकचतुष्क के बिना पूर्वबद्धायुष्क के १३५ की तथा अबद्धायुष्क के १३४ की तथा तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क ये पांच प्रकृतियां न हों तो पूर्वबद्धायुष्क के १३४ की और अबद्धायुष्क के १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

तिर्यंचगति—इस गति वाले जीवों के तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता होती ही नहीं है। इसलिए उपशम सम्यक्त्वी अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क को १४७ की, अन्य गति के आयुबन्धक को एक जीव की अपेक्षा १४५ की, अबद्धायुष्क तथा उसी गति के आयुबन्धक को १४४ की तथा आहारकचतुष्क की सत्ता न हो तो १४७, १४५ और १४४ के बदले १४३, १४१ और १४० प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए।

तिर्यंचगति में अविसंयोजक और विसंयोजक—ये दो प्रकार नहीं होते हैं। क्योंकि पहले गुणस्थान में तीन करण करने से जो उपशम-

सम्यक्त्व प्राप्त होता है वह सम्यक्त्व तिर्यंचों को होता है, परन्तु श्रेणी का सम्यक्त्व नहीं होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तिर्यंचों के पूर्वबद्धायुष्क अनेक जीवों की अपेक्षा १४७ की और एक जीव के यदि अन्य गति की आयु बांधी हो तो १३५ की और उसी गति की आयु बांधने वाले तथा अबद्धायुष्क को १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यदि आहारकचतुष्क सत्ता में न हो तो १४७, १४५ और १४४ के बदले क्रमशः १४३, १४१ और १४० प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय सत्ता में न हों तो १३८ की सत्ता होती है।

क्षायिक सम्यक्त्वी को पूर्वोक्त १३८ प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय के बिना अबद्धायुष्क को १३७ की तथा आयु बांधने वाले को १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। ये आयु बांधने वाले देवायु को ही बांधते हैं। यदि आहारकचतुष्क की सत्तारहित हों तो १३८ और १३७ के बदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मनुष्यगति—उपशम सम्यक्त्वी को प्रारम्भ में बतलाई गई सत्ता के अनुसार ही सत्ता होती है, परन्तु वहाँ अबद्धायुष्क को जो १४८ प्रकृतियों की सत्ता कही गई, वह चारों गतियों की अपेक्षा कही गई है और मनुष्यगति की अपेक्षा से विचार करने पर १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वी के भी विशेषता समझना चाहिए। अन्य सब में उसी प्रकार सत्ता समझ लेनी चाहिए।

देवगति—नरकगति के समान ही इस गति में प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए। परन्तु विसंयोजक की अपेक्षा १४२, १४१, १४०, १३९ और १३८—ये पांच सत्तास्थान अधिक होते हैं।

इस प्रकार **चौथे गुणस्थान में** १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८,

१३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७ और १४८—ये सोलह सत्ता विकल्प समझना चाहिए।

(५) **देशविरति गुणस्थान**—चौथे गुणस्थान के अनुसार ही इस गुणस्थान में भी सोलह सत्ता विकल्प होते हैं। परन्तु विशेषता यह है कि यह गुणस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति के जीवों को ही होता है। अतः जहाँ-जहाँ अबद्धायुष्क के प्रसंग में सत्ता बतलाते हुए चारों आयु सत्ता में मानी गई हैं, वहाँ सिर्फ तिर्यंचायु और मनुष्यायु—ये दो आयु ही गिननी चाहिए।

जैसे अविरतसम्यग्दृष्टि पूर्वबद्धायुष्क उपशम अथवा क्षायोपशमिक अविसंयोजक के अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है, उसके बदले इस गुणस्थान में नरकगति और देवगति नहीं होने से—ये दो गतियाँ नहीं होती हैं। इसलिए १४६ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचायु भी नहीं होने से १३८ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

तिर्यंचगति—चौथे गुणस्थान के समान ही ये जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, परन्तु जो जीव मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय का क्षय करके इस गति में आये हों तो उन्होंने जो सत्ता कम की हो, वह इस गुणस्थान में नहीं होती है। क्योंकि ऐसे जीव असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच में उत्पन्न होते हैं और वे पाँचवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं करते हैं तथा उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व भी नहीं होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व की भी सत्ता यहाँ नहीं समझनी चाहिए। यहाँ तो सिर्फ उपशम तथा क्षायोपशमिक, अविसंयोजक और विसंयोजक से सम्बन्धित सत्ता समझना चाहिए।

(६) **प्रमत्तसंयत गुणस्थान**—यहाँ भी १४८, १४७, १४६, १४५,

१४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४, और १३३ ये सोलह सत्तास्थान हो सकते हैं और यह गुणस्थान मनुष्य को ही होता है, अतः जिस-जिस स्थान पर अबद्धायुष्क के आश्रय से अनेक जीवों की अपेक्षा १४८ की सत्ता कही गई हो, वहाँ १४५ प्रकृतियों की सत्ता समझनी चाहिए। अन्य सब सत्तास्थान चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बताई गई प्रकृतियों की सत्ता के अनुसार ही समझना चाहिए।

(७) **अप्रमत्त गुणस्थान**—इस गुणस्थान में भी छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समान १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

(८) **अपूर्वकरण गुणस्थान**—मनुष्य, तिर्यंच और नरकायु के बन्ध वाले और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव इस गुणस्थान में नहीं होते हैं। इस गुणस्थान के सामान्यतया तीन प्रकार हैं—

(१) उपशम सम्यक्त्वी, उपशमश्रेणी वाले जीव।

(२) क्षायिक सम्यक्त्वी उपशमश्रेणी वाले जीव।

(३) क्षायिक सम्यक्त्वी, क्षपकश्रेणी वाले जीव।

इनमें से उपशम सम्यक्त्वी उपशमश्रेणी वाले जीवों की अपेक्षा प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं।

ये जीव दो प्रकार के होते हैं—(१) श्रेणी से पतित होने वाले और (२) श्रेणी को मांडने वाले। परन्तु इन दोनों की सत्ता में कोई विशेषता नहीं है तथा ये दोनों भी अविसंयोजक और विसंयोजक ऐसे दो प्रकार के होते हैं।

अविसंयोजक—अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क के पूर्व में

बांधी गई देवायु और उदयमान मनुष्यायु के सिवाय बाकी की दो आयु के बिना १४६ की और एक जीव की अपेक्षा अबद्धायुष्क को सद्भाव (विद्यमान) सत्ता की दृष्टि से १४५ की और सम्भव (यदि आयु-बन्ध सम्भव हो तो उस आयु के साथ) सत्ता की दृष्टि से अनेक जीवों की अपेक्षा अन्य गति की आयु बांधी हो तो १४६ की और उसी गति की आयु बांधी हो तो १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। उनमें भी जो जीव तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता के बिना के हों तो उनको १४८, १४६, और १४५ के बदले अनुक्रम से १४७, १४५ और १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है। आहारकचतुष्क की सत्ता न हो तो १४८, १४६ और १४५ के बदले में क्रमशः १४४, १४२ और १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा तीर्थकरनामकर्म और आहारकचतुष्क—इन पांच प्रकृतियों की सत्तारहित जीवों के १४८, १४६ और १४५ के बदले १४३, १४१, और १४० प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विसंयोजक—यहां भी ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता समझना, लेकिन उसमें अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम कर देना चाहिए। अर्थात् जहां १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१ और १४० प्रकृतियां बताई गई हैं, उनके बदले अनुक्रम से १४४, १४३, १४२, १४१ १४०, १३९, १३८, १३७ और १३६ प्रकृतियों की सत्ता कहना चाहिए।

श्रेणी से गिरने वाले जीवों को भी इसी प्रकार सत्ता समझनी चाहिए।

(२) क्षायिक सम्यक्त्वी उपशमश्रेणी वालों में अनेक जीवों की अपेक्षा पूर्वबद्धायुष्क जीवों के दर्शनसप्तक और तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १३९ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं और अबद्धायुष्क के १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। यहां आयुष्क का बन्ध होना संभव नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने के पूर्व अबद्धायुष्क हो और

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करें तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त होता है। अतः यहाँ सम्भव सत्ता भी नहीं होती है।

यदि तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता न हो तो ऊपर कहे अनुसार १३९ और १३८ के बदले अनुक्रम में १३८ और १३७ की तथा आहारक-चतुष्क सत्ता में न हो तो १३९ और १३८ के बदले १३५ और १३४ की एवं तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क—ये पांच प्रकृतियाँ सत्ता में न हों तो १३९ और १३८ के बदले १३४ और १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

(३) क्षायिक सम्यक्त्वी क्षपकश्रेणी वाले जीव अबद्धायुष्क ही होते हैं। अतः दर्शनसप्तक और देव, तिर्यंच और नरकायु—इन दस प्रकृतियों के बिना १३८ प्रकृतियों की तथा तीर्थंकरनामकर्म की सत्तारहित जीवों के १३७ की तथा आहारकचतुष्क की सत्तारहित जीवों के १३४ की तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकचतुष्क—इन पांच प्रकृतियों की सत्ता बिना के जीवों के १३३ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस प्रकार आठवें गुणस्थान में १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७, १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

(९) **अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान**— उपशमश्रेणी के लिए उपशम और क्षायिक सम्यक्त्वी – सभी को पहले बतलाये गये १४८, १४७, १४६, १४५, १४४, १४३, १४२, १४१, १४०, १३९, १३८, १३७ १३६, १३५, १३४ और १३३—ये सोलह सत्तास्थान होते हैं।

क्षपकश्रेणी करने वाले क्षायिक को भी पहले कहे गये अनुसार ही १३८, १३७, १३४ और १३३ ये चार सत्तास्थान होते हैं। परन्तु अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क—इन आठ प्रकृतियों के क्षय होने पर पूर्वोक्त चार विकल्पों के बजाय

अनुक्रम से १३०, १२६, १२६ और १२५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। इनमें से (१) स्थावर, (२) सूक्ष्म, (३) तिर्यंचगति, (४) तिर्यंचानुपूर्वी, (५) नरकगति, (६) नरकानुपूर्वी, (७) आतप, (८) उद्योत, (९) निद्रा-निद्रा, (१०) प्रचलाप्रचला, (११) स्त्यानर्द्धि, (१२) एकेन्द्रिय, (१३) द्वीन्द्रिय, (१४) त्रीन्द्रिय, (१५) चतुरिन्द्रिय और (१६) साधारण— इन सोलह प्रकृतियों का क्षय होने पर अनुक्रम से ११४, ११३, ११० और १०९ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

अनन्तर सामान्यतः नपुंसकवेद का क्षय होने पर पूर्वोक्त सत्ता-स्थानों के बदले क्रमशः ११३, ११२, १०९ और १०८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इनमें से स्त्रीवेद का क्षय होने पर ११२, १११, १०८ और १०७ प्रकृतियों की, इनमें से भी हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर १०६, १०५, १०२ और १०१ प्रकृतियों की और बाद में पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, १०४, १०१ और १०० प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

अब श्रेणीप्रस्थापना की अपेक्षा विचार करते हैं—

(१) **नपुंसकवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का और पुरुषवेद तथा हास्यादि षट्क का उसी समय क्षय करे तो नपुंसकवेद का क्षय होने पर ही ११३, ११२, १०९ और १०८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। हास्यादि षट्क का क्षय होने पर १०६, १०५, १०२ और १०१ प्रकृति वाले सत्ता विकल्प नहीं होते हैं, किन्तु अन्य स्थान पर होने वाले ११३ आदि के विकल्प सम्भव हैं, परन्तु १०६ प्रकृतियों का सत्तास्थान अन्य किसी प्रसंग पर नपुंसकवेदी क्षपक श्रेणी प्रस्थापक को होता ही नहीं है। इसलिए यह विकल्प तो उसके सर्वथा वर्जित है।

(२) **स्त्रीवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—पुरुषवेद और हास्यादिषट्क का एक ही समय में क्षय करता है, अतः उस अवसर पर होने वाले १०६,

१०५, १०२ और १०१ प्रकृति वाले—ये चार विकल्प सम्भव नहीं हैं। १०६ का विकल्प पूर्वोक्त रीति से सम्भव नहीं है। परन्तु अन्य विकल्प तो दूसरे स्थान पर होने से सम्भव हो सकते हैं।

(३) **पुरुषवेदी श्रेणीप्रस्थापक**—ऊपर कहे गये अनुसार ही सत्ता-स्थान होते हैं। प्रासंगिक रूप में सामान्यतः कथन कर अब विशेष रूप में विचार करते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि पुरुषवेद का क्षय होने पर १०५, १०४, १०१ और १०० प्रकृतियों के विकल्प शेष रहते हैं। उनमें से संज्वलन क्रोध क्षय होने पर १०४, १०३, १०० और ९९ प्रकृतियों के ये चार विकल्प होते हैं। उनमें से संज्वलन मान का क्षय होने पर १०३, १०२, ९९ और ९८—ये चार विकल्प होते हैं। इसके बाद संज्वलन माया के क्षय से दसवें गुणस्थान की शुरूआत होती है।

इस प्रकार क्षपक को ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, १२५, १२६, १२९, १३०, १३३, १३४, १३७ और १३८—ये कुल २५ सत्तास्थान होते हैं तथा अनिवृत्ति गुणस्थान में पूर्वोक्त २५ सत्तास्थानों में से ९८ से १३४ तक २३ स्थान तथा १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८—ये चौदह स्थान और मिलाने से कुल सैंतीस सत्तास्थान सम्भावित हैं।

(१०) **सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान**—इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी वालों को पूर्व गुणस्थान में कहे गये १३३ से १४८ तक के कुल सोलह सत्तास्थान होते हैं। क्षपकश्रेणी वाले को नौवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क की सत्ता वाले को १०२ की और तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता न हो तो

१०१ की और आहारकचतुष्करहित तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता वाले को ९८ की और तीर्थंकरनामकर्म तथा आहारकचतुष्क की भी सत्ता न हो तो ९७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

इस गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का भी क्षय हो जाता है, तब बारहवां गुणस्थान प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार दसवें गुणस्थान में ९७, ९८, १०१, १०२ और १३३ से १४८ तक के सोलह स्थान कुल मिलाकर बीस सत्तास्थान होते हैं। क्षपकश्रेणी करने वाला सीधा दसवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान को ही प्राप्त करता है।

(११) **उपशान्तमोह गुणस्थान**—इस गुणस्थान में भी १३३ से लेकर १४८ तक के सोलह सत्ताविकल्प होते हैं। इस गुणस्थान में आया हुआ जीव अवश्य ही नीचे गिरता है।

(१२) **क्षीणमोहवीतराग गुणस्थान**—दसवें गुणस्थान के अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय होने से क्रमशः १०१, १००, ९७ और ९६ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं तथा द्विचरम समय में निद्रा और प्रचला का क्षय होने से क्रमशः ९९, ९८, ९५ और ९४ प्रकृति वाले चार विकल्प होते हैं। इसके अनन्तर बारहवें गुणस्थान के अन्त में दर्शनावरणचतुष्क, ज्ञानावरणपंचक तथा अन्तरायपंचक कुल मिलाकर चौदह प्रकृतियों का क्षय होने पर तेरहवें गुणस्थान की शुरूआत होती है।

इस प्रकार बारहवें गुणस्थान में ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १०० और १०१—ये आठ विकल्प होते हैं।

(१३) **सयोगिकेवलीगुणस्थान**—बारहवें गुणस्थान के अन्त में चौदह प्रकृतियों के क्षय होने से पूर्व जो ९४, ९५, ९८ और ९९—ये

चार विकल्प हुए हैं, उनमें से चौदह प्रकृतियों के क्षय होने से तेरहवें गुणस्थान में उक्त चार विकल्पों के बदले ८०, ८१, ८४ और ८५ ये चार विकल्प वाले सत्तास्थान होते हैं।

यह विशेष समझना चाहिए कि आहारकचतुष्क और तीर्थंकर-नामकर्म की सत्ता वालों को ८५ की, तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता न हो तो ८४ की, आहारकचतुष्क न हो तो ८१ की और तीर्थंकरनामकर्म तथा आहारकचतुष्क कुल पाँच प्रकृतियों की सत्ता न हो तो ८० प्रकृतियों की सत्ता होती है। इस प्रकार इस गुणस्थान में ८०, ८१, ८४, और ८५ प्रकृतियों वाले चार सत्ता विकल्प होते हैं।

(१४) **अयोगिकेवलीगुणस्थान**—इस गुणस्थान में द्विचरम समय तक पूर्वोक्त ८०, ८१, ८४ और ८५ प्रकृति वाले चार सत्तास्थान होते हैं। इसके बाद ८५ प्रकृतियों के सत्तास्थान वाले के देवगति, देवानुपूर्वी, शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति, दो गन्ध, आठ स्पर्श, पाँच वर्ण, पाँच रस, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघातन, निर्माण, छह संहनन, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, छह संस्थान, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त, साता असाता वेदनीय में से कोई एक, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, औदारिक, वैक्रिय और आहारकअंगोपांग, सुस्वर और नीचगोत्र इन ७२ प्रकृतियों के क्षय होने पर १३ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी सहित ७३ के क्षय होने पर १२ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

तीर्थंकरनामकर्म की सत्तारहित जीवों के ७२ प्रकृतियों के क्षय होने पर १२ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

दूसरे मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी सहित ७३ प्रकृतियों का क्षय होने पर ११ प्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं।

सारांश यह है कि ग्रन्थकार के मतानुसार १२ और १३ प्रकृतियों का तथा अन्य मतानुसार १२ और ११ प्रकृतियों के स्थान होते हैं तथा आहारकचतुष्क सत्ता में न हो तो ६८ प्रकृतियों का क्षय होता है। क्योंकि पहले कही गयी ७२ प्रकृतियों में आहारकचतुष्क का ग्रहण किया गया है और आहारकचतुष्क तो इस जीव को सत्ता में ही नहीं है, अतः ६८ प्रकृतियों का ही क्षय होता है। अतएव मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकरनामकर्म, उच्चगोत्र, मनुष्यायु और मनुष्यानुपूर्वी, साता-असाता वेदनीय में से कोई एक—ये तेरह प्रकृतियाँ और अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी के बिना बारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

लेकिन जिनके तीर्थंकरनामकर्म और आहारकचतुष्क सत्ता में न हों, उनके भी ६८ प्रकृतियाँ क्षय होती हैं, परन्तु तीर्थंकरनामकर्म के बिना बारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। अन्य मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी के बिना ग्यारह प्रकृतियाँ शेष रहती हैं।

इस प्रकार स्वमतानुसार १२, १३ प्रकृतियों का सत्तास्थान तथा अन्य मतानुसार ११ और १२ प्रकृतियों का तथा ८०, ८१, ८४ और ८५—ये छः सत्तास्थान चौदहवें गुणस्थान में होते हैं।

अनन्तर चरम समय में बाकी बची हुई समस्त प्रकृतियों का क्षय कर अनादि सम्बन्ध वाले कार्मणशरीर को छोड़कर जन्म-मरण से मुक्त हो मोक्ष में अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों की सत्ता का वर्णन पूर्ण हुआ। विशेष जानकारी के लिए साथ में दिये गये सत्तायन्त्र को देखिए।

कालगणना : जैनदृष्टि

शास्त्रों में काल-सूचक समय, आवली, घड़ी, मुहूर्त, पल्योपम,

आदि शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया जाता है। इन से यह ज्ञात होता है कि काल एक क्षण मात्र ही नहीं है, लेकिन क्रमबद्ध धारा-प्रवाह रूप से परिवर्तनशील है। आधुनिक वैज्ञानिक भी काल को प्रवाहात्मक मानकर इसके अनेक सूक्ष्म अंशों की जानकारी तक पहुँच चुके हैं। लेकिन आगमों में इन सूक्ष्म अंशों के भी अनेक सूक्ष्म अंश होने की विवेचना करके उसकी अनन्तता को सिद्ध किया है।

यह विवेचना जिज्ञासुओं को बोधप्रद एवं ज्ञातव्य होने से संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। विशेष जानकारी के लिए जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्र एवं आचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों को देखना चाहिए।

जैनदर्शन में जीवादि छह द्रव्यों के समूह को लोक कहा है। इन छह द्रव्यों में काल भी एक है। अन्य जीवादि द्रव्यों का लक्षण, भेद-प्रभेद आदि-आदि के द्वारा जिस प्रकार का सूक्ष्मतम वर्णन किया गया है, उसी प्रकार काल का भी वर्णन किया है।

सर्वप्रथम कालद्रव्य की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो द्रव्य जीव-अजीव द्रव्यों पर वरतता है, एवं उनकी नवीन, पुरातन आदि अवस्थाओं के बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, उसे काल कहते हैं। यद्यपि धर्मादि द्रव्य अपनी नवीन पर्याय उत्पन्न करने में स्वयं प्रवृत्त होते हैं, तथापि वह पर्याय भी बाह्य सहकारी कारण के बिना नहीं होती है और वह सहकारी कारण कालद्रव्य है। कालद्रव्य का उक्त लक्षण स्वयं काल के शाब्दिक अर्थ से ध्वनित हो जाता है—

कल्यते, क्षिप्यते, प्रेर्यते येन क्रियावद् द्रव्यं स कालः।[1]

जिसके द्वारा क्रियावान द्रव्य कल्यते...... अर्थात् प्रेरणा किये जाते हैं, वह कालद्रव्य है। यह कालद्रव्य न तो स्वयं परिणमित होता है

१. राज वा० ४/१४/२२२/१२

और न अन्य को अन्य रूप में परिणमाता है, यानी प्रेरक होकर अन्य द्रव्यों का परिणमन नहीं करता है, किन्तु स्वतः नाना प्रकार के परिणामों को प्राप्त होने वाले पदार्थों के लिए काल कारण होता है।

अब प्रश्न होता है कि कालद्रव्य है; कालद्रव्य का अस्तित्व है ? यह कैसे जाना जाये ? तो इसका उत्तर यह है कि समयादिक क्रिया विशेषों की और समयादि द्वारा होने वाले पाक आदिक की समय, पाक इत्यादि रूप से अपनी-अपनी रौढ़िक संज्ञा के रहते हुए भी उसमें समय, काल, पाककाल इत्यादि रूप से काल संज्ञा का आरोप होता है और इस संज्ञा से निमित्तभूत मुख्य काल के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है।

यह कालद्रव्य असंख्यात है और मुख्य काल वर्तना रूप है। इस प्रकार मुख्य काल के आधार से ही गौण—व्यवहार काल का घड़ी, मिनट, दिन-रात, पक्ष, मास आदि के रूप में और इनके द्वारा परिवर्तन रूप मुख्य काल का ज्ञान करते हैं, यह मुख्य काल एक-एक अणु के रूप में लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर विद्यमान है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। अतः कालाणु भी असंख्यात हैं। व्यवहारकाल के सबसे सूक्ष्मतम अंश का नाम समय है, यानी कालगणना का केन्द्र-बिन्दु समय है और उसके बाद निमिष, घड़ी, दिन-रात आदि की हम जानकारी करते हैं। इन समयादि की उत्पत्ति का कारण भी इस मनुष्यलोक में मेरु की नित्य प्रदक्षिणा करने वाले सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिषी देव हैं। इनकी गति से दिन-रात्रि आदि का व्यवहार मनुष्य-लोक में होता है।

कालद्रव्य के सूक्ष्मतम अंश को समय कहते हैं और समय की परिभाषा यह है कि जिस आकाश प्रदेश पर जो कालाणु अवस्थित है जब उस आकाश प्रदेश को पुद्गल परमाणु मन्दगति से उल्लंघन

कर अन्य प्रदेश पर पहुँच जाता है तो उस प्रदेश मात्र के अतिक्रमण के परिमाण के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्म वृत्ति रूप समय है, वह कालद्रव्य की समयरूप पर्याय है।

व्यवहारकाल के भेद

व्यवहारकाल का सबसे सूक्ष्मतम अंश समय है। इस 'समय' के पश्चात ही अन्य उत्तरवर्ती काल की गणना होती है। यह गणना इस प्रकार है—

असंख्य समय की आवली (आवलिका) होती है और २५६ आवलिका का एक क्षुल्लकभव (सब से छोटी आयु) और कुछ अधिक सत्रह भवों जो साधिक ४४४६ आवलिका प्रमाण होते हैं, का एक प्राण-श्वासोच्छ्वास होता है। सात प्राण का एक स्तोक, सात स्तोक का एक लव,[1] साढ़े अड़तीस लव की एक घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त की एक दिन-रात्रि।

एक मुहूर्त में ६५५३६ क्षुल्लकभव होते हैं और १६७७७२१६ आवलिकायें होती हैं। एक दिन-रात्रि के अनन्तर १५ दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन (छह मास), दो अयन का एक वर्ष, पाँच वर्ष का एक युग, दो युग का एक वर्ष दशक और इस वर्ष दशक के उत्तरोत्तर समय में १० से गुणा

---

१. आधुनिक समय गणित के अनुसार उच्छ्वास, स्तोक, लव का प्रमाण इस प्रकार समझ सकते हैं—

संख्यात आवली $\frac{२८८०}{३७७३}$ सैकेंड एक उच्छ्वास। ७ उच्छ्वास = ५$\frac{१८५}{५३९}$ सैकेण्ड = स्तोक। ७ स्तोक = ३७$\frac{३१}{७७}$ सैकेण्ड = लव। साढ़े अड़तीस लव = २४ मिनट (घड़ी)।

करने पर शत, सहस्र, लाख, करोड़, अरब, खरब आदि की संख्या निकलती जाती है, जिसे साधारण तौर पर सभी जानते हैं।

जैन समय गणित में सामान्य ज्ञान से आगे के समय की गणना करने के लिए पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित आदि का नामोल्लेख किया है और उन सब में अन्तिम नाम शीर्ष प्रहेलिका है। इनमें ८४ लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है और ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व का प्रमाण निकलता है। जिसमें ७० लाख करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे २८ बार गुणा करने से ५४ अंकों पर १४० बिन्दियाँ आ जाती हैं, जिसे शीर्ष प्रहेलिका कहते हैं। यहाँ गणित संख्यात की सीमा समाप्त हो जाती हैं और इसके आगे का काल पल्योपम, सागरोपम आदि उपमाओं के द्वारा समझाया है।

पल्योपम-सागरोपम की व्याख्या

पल्योपम और सागरोपम का शास्त्रों में अतिसूक्ष्म रूप से विचार किया गया है। जिज्ञासु जन विशेष ज्ञान के लिए शास्त्रों के सम्बन्धित अंश देख लेवें।[1] यहाँ तो संक्षेप में उनका संकेत किया जा रहा है।

शास्त्रों में पल्योपम और सागरोपम के काल प्रमाण को उदाहरण द्वारा समझाया गया है। उक्त उदाहरण इस प्रकार है—

चार कोस (एक योजन) लम्बा, चौड़ा और गहरा कुँआ एक-दो-तीन यावत सात दिन वाले देवकुरु उत्तरकुरु युगलिकों के बालों के असंख्य खण्ड करके उन्हें दबाकर इस प्रकार भरा जाये कि वे बाल-

---

१. (क) काल का विचार जम्बूद्वीप पन्नत्ति कालाधिकार में संगृहीत है।
(ख) अनुयोगद्वार १३८ से १४०।
(ग) प्रवचनसारोद्धार—द्वार १५८ गाथा १०१८—१०२६।

खण्ड हवा में न उड़ सकें और कूप ठसाठस भर जाये। फिर सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक खण्ड निकाला जाये, निकलते-निकलते जब वह कुँआ खाली हो जाये, तब वह एक पल्योपम काल होता है (इसमें असंख्य वर्ष लगते हैं)। तथा दस कोड़ाकोड़ी (१० करोड़ को एक करोड़ से गुणा करना) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। दस कोड़ाकोड़ सागरोपम का एक अवसर्पिणी काल और इतने ही काल अर्थात् दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल होता है। दोनों को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र कहलाता है। जो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है। ऐसे अनन्त कालचक्रों का एक पुद्गल परावर्तन होता है। दूसरे शब्दों में इसे अनन्तकाल कह सकते हैं।

पल्योपम और सागरोपम के उद्धार, अद्धा और क्षेत्र यह तीन भेद हैं। और यह तीनों भेद भी व्यवहार तथा सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाने से कुल मिलाकर छह भेद हो जाते हैं। उद्धार से द्वीप समुद्रों की, अद्धा भेद के द्वारा कर्मस्थिति आदि की तथा क्षेत्र भेद से दृष्टिवाद में द्रव्यों की गणना की जाती है।

काल के संख्यात, असंख्यात, अनन्त रूप

पुद्गल परावर्तन के रूप में काल अनन्त है, वैसे ही वह संख्यात, असंख्यातात्मक भी है। सामान्यतया जिसकी गिनती की जा सके, उसे संख्यात, संख्यातीत को असंख्यात और जिसका अन्त नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। इनमें से संख्यात समय सान्त रूप ही होता है। असंख्यात भी सान्त है, लेकिन अनन्त का व्यय होते हुए भी उसका कभी अन्त नहीं आता है। इसीलिए असंख्यात और अनन्त में यह अन्तर है कि एक-एक संख्या को घटाते जाने पर जिस राशि का अन्त आ जाये अर्थात् जो राशि समाप्त हो जाती है, वह असंख्यात है। और

जिस राशि का अन्त नहीं आता, जो राशि समाप्त नहीं होती, उसे अनन्त कहते हैं।

संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद और उनकी व्याख्या नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिए।

संख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। 'एक' गिनती नहीं है। वह तो वस्तु का स्वरूप है, अतः दो से प्रारम्भ होने वाली गिनती को गणना कहते हैं यानी एक संख्या तो अवश्य है लेकिन गणना का प्रारम्भ दो से होता है, जैसे दो, तीन, चार आदि। इस गणना में दो संख्या को जघन्य संख्यात और तीन से लेकर उत्कृष्ट से एक कम तक की संख्या को मध्यम संख्यात कहते हैं।

उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप इस प्रकार है—कल्पना से जम्बूद्वीप की परिधि जितने तीन पल्य (कुएँ) माने जायें अर्थात् प्रत्येक पल्य की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताइस योजन तीन कोस १२८ धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक हो। एक-एक लाख योजन की लम्बाई चौड़ाई हो। एक हजार योजन की गहराई तथा जम्बूद्वीप की वेदिका जितनी (आठ योजन) ऊँचाई हो। इन तीन पल्यों के नाम क्रमशः शलाका, प्रतिशलाका एवं महाशलाका हों।

सर्वप्रथम शलाका पल्य को सरसों से परिपूर्णरूप से भरकर कल्पना से कोई व्यक्ति एक दाना जम्बूद्वीप में, एक दाना लवण समुद्र में इस प्रकार प्रत्येक द्वीप समुद्र में डालते-डालते जिस द्वीप या समुद्र में वे सरसों के दाने समाप्त हो जायें, इतने विस्तार वाला एक अनवस्थित पल्य बनाया जाये फिर उसे सरसों से भरकर एक दाना शलाका पल्य में डालकर पहले डाले हुए द्वीप समुद्र के आगे पूर्ववत डालता जाये। इस प्रकार बड़े विस्तार वाले अनवस्थित पल्यों की कल्पना करते हुए

एवं शलाका पल्य में एक-एक दाना डालते हुए जब शलाका पल्य इतना भर जाये कि उसमें एक दाना भी न समा सके और अनवस्थित पल्य भी पूरा भरा हुआ हो। उस स्थिति में शलाका पल्य से एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डाले और फिर आगे के द्वीप समुद्रों में डालता जाये। जब वह शलाका पल्य खाली हो जाये तो फिर उसे पहले की तरह उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तार वाले नये-नये अनवस्थित पल्यों की कल्पना करके उन्हें भरे। जब वे पूरे हो जायें तब एक दाना प्रतिशलाका पल्य में डालकर शेष दाने द्वीप समुद्र में डालता हुआ खाली करे। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका और अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका पल्य को भर दे।

उसके भरने के बाद एक दाना महाशलाका पल्य में डालकर पूर्व विधि से प्रतिशलाका पल्य को द्वीप समुद्रों में खाली करे। ऐसे अनवस्थित से शलाका, अनवस्थित शलाका से प्रतिशलाका तथा अनवस्थित शलाका-प्रतिशलाका से महाशलाका को भरने पर जब चारों पल्य पूरे भर जायें तब उनके सरसों के दानों का एक ढेर लगाये। उस ढेर में से यदि एक दाना निकाल लिया जाये तो वह उत्कृष्ट संख्यात है।

असंख्यात के नौ भेद इस प्रकार हैं—

१. उक्त उत्कृष्ट संख्यात में यदि एक दाना और मिला दिया जाय तो वह असंख्यात का पहला भेद जघन्य परीतासंख्यात है।

२. पहले और तीसरे भेद के बीच की संख्या असंख्यात का दूसरा भेद मध्यम परीतासंख्यात है।

३. असंख्यात के प्रथम भेद के दानों की जितनी संख्या है, उनका

अन्योन्याभ्यास[1] करने पर अर्थात् उनके अलग-अलग ढेर लगाकर फिर उनका परस्पर गुणा करने पर जो संख्या आये, उसमें से एक दाना कम करने पर असंख्यात का तीसरा भेद उत्कृष्ट परीतासंख्यात कहलाता है।

४. असंख्यात के तीसरे भेद की राशि में एक दाना मिलाने पर असंख्यात का चौथा भेद जघन्य युक्तासंख्यात बनता है। एक आवली में इतने ही असंख्य समय होते हैं।

५. चौथे और छठे के बीच की संख्या को मध्यम युक्तासंख्यात कहते हैं।

६. असंख्यात के चौथे भेद के सरसों की राशि को परस्पर गुणा करने से प्राप्त राशि में से एक दाना निकालने पर असंख्यात का छठवां भेद उत्कृष्ट युक्तासंख्यात कहलाता है।

७. छठे भेद के सरसों की राशि में एक दाना मिलाने पर जघन्या-संख्यातासंख्यात कहलाता है।

८. सातवें और नौवें भेद के बीच की संख्या मध्यमासंख्याता-संख्यात है।

९. सातवें भेद की सर्षपराशि का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त राशि में से एक दाना कम करने पर प्राप्त होने वाली राशि उत्कृष्टा-संख्यातासंख्यात कहलाती है।

---

१. अन्योन्याभ्यास और गुणा में अन्तर—पांच को पांच से गुणा करने पर ५ × ५ = २५ होते हैं। और अन्योन्याभ्यास करने से ३१२५ होते हैं। सर्वप्रथम ५-५-५-५-५ इस तरह को पांच को पांच जगह स्थापित करके फिर एक दूसरे से गुणा किया जाता है जैसे ५ × ५ = २५, २५ × ५ = १२५, १२५ × ५ = ६२५, ६२५ × ५ = ३१२५।

अनन्त के आठ भेद इस प्रकार हैं—

१. असंख्यात के नौवें भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का पहला भेद होता है। जिसे जघन्य परीतानन्त कहते हैं।

२. अनन्त के पहले और तीसरे भेद के बीच की संख्या मध्यम परीतानन्त कहलाती है।

३. अनन्त के पहले भेद की संख्या का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त संख्या में से एक कम करने पर अनन्त का तीसरा भेद होता है। उसे उत्कृष्ट परीतानन्त कहते हैं।

४. अनन्त के तीसरे भेद की संख्या में एक मिलाने पर अनन्त का चौथा भेद जघन्य युक्तानन्त कहलाता है।

५. अनन्त के चौथे और छठे भेद के बीच की संख्या मध्यम युक्तानन्त है।

६. अनन्त के चौथे भेद की संख्या का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या में से एक कम करने पर अनन्त का छठा भेद उत्कृष्ट युक्तानन्त कहलाता है।

७. अनन्त के छठे भेद की संख्या में एक मिलाने से अनन्त का सातवां भेद जघन्यानन्तानन्त कहलाता है।

८. जघन्यानन्तानन्त के आगे की सब संख्या अनन्त का आठवां भेद मध्यमानन्तानन्त कहलाता है।

यह आठ भेद आगमानुसार हैं। किन्हीं आचार्यों ने उत्कृष्टानन्तानन्त[1] यह नौवां भेद माना है किन्तु वह आगम समर्थित न होने से विचारणीय है।

---

१. अनन्त के सातवें भेद की संख्याओं को तीन बार गुणा करे फिर उसमें निम्नलिखित छह अनन्त वस्तुओं को मिलाये—

पुद्गलपरावर्तन : लक्षण व भेद

यह पहले संकेत किया गया है कि पुद्गलपरावर्तनरूप काल अनन्त है। यह अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी के बराबर होता है। अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ विशेष वर्णन करते हैं।

यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से भरा हुआ है। ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य भी हैं और अयोग्य (अग्रहणयोग्य) भी हैं। अग्रहणयोग्य वर्गणाएँ तो अपना अस्तित्व रखते हुए भी ग्रहण नहीं की जाती हैं, लेकिन ग्रहणयोग्य वर्गणाओं में भी ग्रहण और अग्रहण रूप दोनों प्रकार की योग्यता होती है। ऐसी ग्रहणयोग्य वर्गणाएँ आठ प्रकार की हैं—

१. औदारिकशरीरवर्गणा, २. वैक्रियशरीरवर्गणा,
३. आहारकशरीरवर्गणा, ४. तैजस्‌शरीरवर्गणा,
५. भाषावर्गणा, ६. श्वासोच्छ्वासवर्गणा,
७ मनोवर्गणा, ८. कार्मणवर्गणा।[1]

ये वर्गणाएं क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हैं। और इनकी अवगाहना भी उत्तरोत्तर न्यून अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

उक्त ग्रहणयोग्य वर्गणाओं में से आहारकशरीरवर्गणा को छोड़कर

---

१. सिद्ध, २. निगोद जीव, ३. प्रत्येक साधारण वनस्पति, ४. भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों कालों के समय, ५. सब पुद्गल परमाणु, ६. अलोकाकाश। इन छहों के मिलाने के बाद जो राशि प्राप्त हो, उसे तीन बार गुणा करके यदि केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्यायें मिला दी जायें तो उसे उत्कृष्टानन्तानन्त कहेंगे।

१. (क) समान जातीय पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते हैं।
(ख) पंचसंग्रह गा० १५ (बन्धन कारण), आवश्यकनिर्युक्ति गा० ३९।

शेष औदारिकादि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना पुद्गलपरावर्तन कहलाता है।

एक पुद्गलपरावर्तन व्यतीत होने में अनन्त कालचक्र लग जाते हैं। अद्धापल्योपम की अपेक्षा से २० कोटाकोटि सागरोपम का एक कालचक्र होता है।

पुद्गलपरावर्तन के मुख्य चार भेद हैं—

१. द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, २. क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन, ३. काल पुद्गलपरावर्तन, ४. भाव पुद्गलपरावर्तन।[1] और इन चारों के भी बादर और सूक्ष्म यह दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार से पुद्गलपरावर्तन के निम्नलिखित आठ भेद हैं—

१. बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, २. सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन,
३. बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन, ४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन,
५. बादर काल पुद्गलपरावर्तन, ६. सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन,
७. बादर भाव पुद्गलपरावर्तन, ८. सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन।

इन आठ भेदों की व्याख्या क्रमशः निम्न प्रकार है—

१. **बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन**—जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले समस्त परमाणुओं को आहारकशरीरवर्गणा के सिवाय शेष औदारिकशरीर आदि सातों वर्गणारूप से ग्रहण करके

---

१. दिगम्बराचार्यों ने इन चार पुद्गलपरावर्तनों के अतिरिक्त पाँचवां भेद भव पुद्गलपरावर्तन माना है। संसारी जीव का नरक की छोटी से छोटी आयु लेकर ग्रैवेयक विमान तक की आयु को समय क्रम से प्राप्त कर भ्रमण करना भव परावर्तन है।

छोड़ देता है, उतने काल को बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। सारांश यह है कि विश्व के प्रत्येक परमाणु औदारिक आदि सातों वर्गणाओं में परिणमन करें यानी जब जीव सारे लोक में व्याप्त सभी परमाणुओं को औदारिकादि रूप से प्राप्त कर ले तब एक बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन होता है।

२. **सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन**—जितने काल में समस्त परमाणुओं को औदारिक शरीर आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है, उस काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस समय जीव सर्व लोकवर्ती अणुओं को औदारिक रूप में परिणमाता है, अगर उस समय के बीच में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण कर ले तो उस समय को गिनती में नहीं लेना। किन्तु औदारिक रूप में परिणत अणुओं का ही ग्रहण करना। इसी प्रकार वैक्रियशरीर वर्गणा आदि अन्य वर्गणाओं के लिए भी समझना चाहिए।

३. **बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन**—एक जीव अपने मरण के द्वारा लोकाकाश के समस्त प्रदेशों को क्रम से या बिना क्रम से जैसे बने वैसे जितने समय में स्पर्श कर लेता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। जिस प्रदेश में एक बार मृत्यु प्राप्त कर चुका है अगर उसी प्रदेश में फिर मृत्यु प्राप्त करे तो वह इसमें नहीं गिना जायेगा। केवल वे ही प्रदेश गिने जायेंगे, जिनमें पहले मृत्यु प्राप्त नहीं की है। यद्यपि जीव असंख्यात प्रदेशों में रहता है फिर भी किसी प्रदेश को मुख्य मान कर गिनती की जा सकती है।

४. **सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन**—कोई जीव संसार में भ्रमण करते हुए आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है। पुनः उसके निकटवर्ती

तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब उसे सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गलपरावर्तन कहते हैं। बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्‌गलपरावर्तन में इतना अन्तर है कि बादर में तो क्षेत्र के प्रदेशों के क्रम का विचार नहीं किया जाता है और सूक्ष्म में क्षेत्र-प्रदेश के क्रम का विचार होता है।

५. बादर काल पुद्‌गलपरावर्तन—बीस कोटा-कोटी सागरोपम के एक कालचक्र के प्रत्येक समय को क्रम से या अक्रम से जीव अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है तो उसे बादर काल पुद्‌गलपरावर्तन कहते हैं। जब एक ही समय में जीव दूसरी बार मरण प्राप्त कर लेता है तो वह उसमें नहीं गिना जाता है। इस प्रकार अनेक भव धारता हुआ जीव कालचक्र के प्रत्येक समय को स्पर्श कर लेता है। तब वह बादर काल पुद्‌गलपरावर्तन पूरा होता है।

६. सूक्ष्म काल पुद्‌गलपरावर्तन—कालचक्र के प्रत्येक समय को जीव जब क्रमशः मृत्यु द्वारा स्पर्श करता है तो वह सूक्ष्म-काल पुद्‌गल परावर्तन है। अक्रम से समय को स्पर्श किया तो उसका इसमें ग्रहण नहीं होता है। जैसा कि अगर पहले समय को स्पर्श कर तीसरे समय को स्पर्श कर ले तो वह गिनती में नहीं लिया जायेगा। यानी क्रमबद्ध रूप से कालचक्र के समयों को स्पर्श कर पूरे कालचक्र के समयों को स्पर्श करना सूक्ष्म काल पुद्‌गल परावर्तन है।

७. बादर भाव पुद्‌गलपरावर्तन—अनुभागबन्ध के कारण रूप समस्त कषायस्थानों को जीव अपनी मृत्यु द्वारा स्पर्श कर लेता है। अर्थात् मन्द, मन्दतर आदि उनके सभी परिणामों में एक बार मृत्यु प्राप्त कर लेता है तब उसे बादर भाव पुद्‌गलपरावर्तन कहते हैं।

८. सूक्ष्म भाव पुद्‌गलपरावर्तन—अनुभागबन्ध के कारणभूत

कषायस्थानों को क्रम से जितने समय में स्पर्श करता है अर्थात् किसी भाव के मन्द परिणाम के स्पर्श करने के बाद अगर वह दूसरे भाव को स्पर्श करता है तो वह उसमें नहीं गिना जायेगा। लेकिन जब उसी भाव के दूसरे परिणाम का स्पर्श करेगा तभी वह गिना जायेगा। इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक भाव के सभी परिणामों को स्पर्श करता हुआ जीव जब सभी भावों का स्पर्श कर लेता है तब सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन पूर्ण होता है।

उक्त आठ भेदों में बादर भेदों का स्वरूप केवल सूक्ष्म परावर्तनों को समझाने के लिए दिया गया है। शास्त्रों में जहाँ पुद्गलपरावर्तन काल का निर्देश आता है, वहाँ सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन ही लेना चाहिए। जैसे सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद जीव देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तन में अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। वहाँ काल का सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन ही लिया जाता है।

इस प्रकार जैन-वाङ्मय में कालगणना का अति सूक्ष्म, गम्भीर और तलस्पर्शी विवेचन किया गया है। अपेक्षाभेद से इस काल को समय से लेकर भूत, वर्तमान, भविष्य, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि के रूप में गणना कर लें। लेकिन इन भेद-प्रभेदों से उसकी अनन्तता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है। इसीलिए लोक, जीव आदि द्रव्यों को काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त माना है। लोक अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इस लोक में विद्यमान संसारी जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद अनन्त संसार का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

तुलनात्मक मंतव्य

(श्वेताम्बर-दिगम्बर मान्यता)

सामान्यतया कर्मों की बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता प्रकृतियों

की संख्या एवं गुणस्थानों, मार्गणाओं में कर्मों के बन्ध आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिकों, कर्मग्रन्थकारों तथा श्वेताम्बर-दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित कर्मसाहित्य के विषय-प्रतिपादन में अधिकांशतः समानता परिलक्षित होती है। कथंचित् भिन्नता भी है जो कर्मविषयक अध्ययन और मनन के योग्य होने से कतिपय बिन्दुओं को यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

गुणस्थान का लक्षण

श्वेताम्बर ग्रन्थों में गुणस्थान की व्याख्या—'ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप को गुणस्थान कहते हैं' – की गई है। परन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में गुणस्थान की व्याख्या इस प्रकार है—'दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओं के समय जो भाव होते हैं, उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है, इसीलिए वे भाव गुणस्थान कहलाते हैं।'

—गोम्मटसार जीवकांड गा० ८

आगमों में गुणस्थान शब्द के लिए जीवस्थान शब्द प्रयोग देखने में आता है। गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमोत्तरकालीन आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थों एवं अन्य ग्रन्थों में किया गया है। षट्खण्डागम की धवला टीका में गुणस्थानों के लिए 'जीवसमास' शब्द का प्रयोग देखने में आता है और इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव गुणों में रहता है अतः उसे जीवसमास कहते हैं।

दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड, गा० ६२२) में गुणस्थान के क्रम से जीवों के पुण्य, पाप दो भेद किये हैं। मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वोन्मुखी जीवों को पापजीव और सम्यक्त्वी जीवों को पुण्यजीव कहा है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देशविरत के ११ भेद दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड गा० ४७६) में हैं। जैसे—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तविरति, (६) रात्रिभोजनविरति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ-विरति, (९) परिग्रहविरति, (१०) अनुमतिविरति, (११) उद्दिष्ट-विरति। इनमें 'प्रोषध' शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदायप्रसिद्ध 'पौषध' शब्द के स्थान पर है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थकारों ने गुणस्थानों में बंधयोग्य प्रकृतियाँ समान मानी हैं। लेकिन दिगम्बर ग्रन्थों (गो० कर्मकांड) में सातवें गुणस्थान-अप्रमत्तविरत गुणस्थान में ५९ प्रकृतियों का और श्वेताम्बर कर्मग्रन्थकारों ने ५८ या ५९ प्रकृतियों का बन्ध माना है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु के बंध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये बिना सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५९ प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं और जो जीव छठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देवायु के बंध को छठे गुणस्थान में ही समाप्त करते हैं, उनकी अपेक्षा ५८ प्रकृतियों का बंध होता है। (विशेष गा० ७, ८ की व्याख्या में देखिए।)

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थों में गुणस्थानों की उदय व उदीरणा योग्य प्रकृतियाँ समान मानी हैं। लेकिन यह समानता दिगम्बर ग्रन्थ गो० कर्मकांड गा० २६४ में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मतानुसार मिलती है और उसी ग्रन्थ में (गा० २६३) व्यक्त यति-वृषभाचार्य के मत से कहीं मिलती है और कहीं नहीं मिलती है। यतिवृषभाचार्य पहले गुणस्थान में ११२ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियों का उदय मानते हैं। कर्मग्रन्थ में पहले गुणस्थान में ११७ और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय बताया है।

सातवें आदि गुणस्थानों में वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहार संज्ञा को दिगम्बर साहित्य (गो० जीवकांड गा० १३८) में नहीं माना है। परन्तु उक्त गुणस्थानों में उक्त संज्ञा को मानने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती है क्योंकि उन गुणस्थानों में असातावेदनीय के उदय आदि अन्य कारण सम्भव है।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। परन्तु दिगम्बर ग्रन्थ (गो० कर्मकांड) में आहारकद्विक और तीर्थंकरनामकर्म इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ प्रकृतियों की सत्ता मानी है। इसी प्रकार गो० कर्मकांड गा० ३३३-३३६ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरकायु की सत्ता नहीं होती और छठे व सातवें गुणस्थान में नरकायु व तिर्यंचायु इन दो की सत्ता नहीं होती। अतः उस ग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी है किन्तु कर्मग्रन्थ के अनुसार पाँचवें गुणस्थान में नरकायु की और छठे, सातवें गुणस्थान में नरकाय, तिर्यंचायु की सत्ता भी हो सकती है। □

१. बन्धयंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	अबन्ध
	सामान्य	८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	३
२	सासादन	८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५	१९
३	मिश्र	७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५	४६
४	अविरत	८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५	४३
५	देशविरत	८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५	५३
६	प्रमत्तसंयत	८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५	५७
७	अप्रमत्तसंयत	८|७	५९|५८	५	६	१	९	१|०	३१	१	५	६१|६२
८	अपूर्वकरण भाग १	७	५८	५	६	१	९	०	३१	१	५	६२
	,, ,, २	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,, ,, ३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४

क्रम	गुणस्थान नाम		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	अबन्ध
	अपूर्वकरण	भाग ४	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,,	,, ५	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,,	,, ६	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५	६४
	,,	,, ७	७	२६	५	४	१	९	०	१	१	५	९४
९	अनिवृत्तिकरण	भाग १	७	२२	५	४	१	५	०	१	१	५	९८
		,, २	७	२१	५	४	१	४	०	१	१	५	९९
		,, ३	७	२०	५	४	१	३	०	१	१	५	१००
		,, ४	७	१९	५	४	१	२	०	१	१	५	१०१
		,, ५	७	१८	५	४	१	१	०	१	१	५	१०२
१०	सूक्ष्मसंपराय		६	१७	५	४	१	०	०	१	१	५	१०३
११	उपशांतमोह		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१२	क्षीणमोह		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१३	सयोगिकेवली		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०	११९
१४	अयोगिकेवली		०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२०

२. उदययंत्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय	अनुदय
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	०
१	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७	अप्रमत्तसंयत	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५	४६
८	अपूर्वकरण	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५	५०
९	अनिवृत्तिकरण	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५	५६
१०	सूक्ष्मसंपराय	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५	६२
११	उपशांतमोह	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५	६३
१२	क्षीणमोह	७	५७|५५	५	६|४	२	०	१	३७	१	५	६५|६७
१३	सयोगिकेवली	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०	८०
१४	अयोगिकेवली	४	१२	०	०	१	०	१	९	१	०	११०

३. उदीरणायन्त्र

क्रम	गुणस्थान नाम	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अंतराय	अनुदीरणा
	सामान्य	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५	×
१.	मिथ्यात्व	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५	५
२.	सासादन	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५	११
३.	मिश्र	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५	२२
४.	अविरत	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५	१८
५.	देशविरत	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५	३५
६.	प्रमत्तसंयत	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५	४१
७.	अप्रमत्तसंयत	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५	४९
८.	अपूर्वकरण	६	६९	५	६	०	१३	०	३९	१	५	५३
९.	अनिवृत्तिकरण	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५	५९
१०.	सूक्ष्मसंपराय	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५	६५
११.	उपशांतमोह	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५	६६
१२.	क्षीणमोह	५	५४।५२	५	६।४	०	०	०	३७	१	५	६८।७०
१३.	सयोगिकेवली	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०	८३
१४.	अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१२२

४. सत्तायन्त्र

१४ गुणस्थानों में सत्ता		मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	उपशमश्रेणी	क्षपकश्रेणी	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय
सामान्य		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
१. मिथ्यात्व		८	१४८			५	९	२	२८	४	९३	२	५
२. सासादन		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
३. मिश्र		८	१४७			५	९	२	२८	४	९२	२	५
४. अविरत		८	१४८‡	१४८।१४१	१४५।१३८	५	९	२	२८।२४।२१	४।१	९३	२	५
५. देशविरत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
६. प्रमत्तसंयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
७. अप्रमत्तसंयत		८	१४८	,,	,,	५	९	२	,,	,,	९३	२	५
८. अपूर्वकरण		८	१४८।१४२*	१४२।१३९	१३८	५	९	२	,,	२।१	९३	२	५
९. अनिवृत्ति-	१	८	,,	,,	१३८	५	९	२	२१†	,,	९३।८०	२	५
करण के	२			०	१२२	५	९।६	२	२१	,,	९३।८०	२	५
९ भाग	३			०	११४	५	,,	२	१३	,,	,,	२	५
होते हैं	४			०	११३	५	,,	२	१२	,,	,,	२	५

१४ गुणस्थान में सत्ता	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति	उपशमश्रेणी	क्षपकश्रेणी	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	मोहनीय	आयु	नाम	गोत्र	अन्तराय
	५		०	११२	५	९।६	२	११	२।१	९३।८०	२	५
	६		०	१०६	५	,,	२	५	,,	,,	२	५
	७		०	१०५	५	,,	२	४	,,	,,	२	५
	८		०	१०४	५	,,	२	३	,,	,,	२	५
	९		०	१०३	५	,,	२	२	,,	,,	२	५
१०. सूक्ष्मसंपराय	८	१४८।१४२	१४२।१३९	१०२	५	,,	२	२८।२४।२१।१	,,	,,	२	५
११. उपशांतमोह	८	१४८।१४२	१४२।१३९	१०१	५	,,	२	२८।२४।२१	,,	,,	२	५
१२. क्षीणमोह	७	१०१।९९	०	१०१।९९	५	६।४	२	०	१	९३	२	५
१३. सयोगिकेवली	४	८५	०	८५	०	०	२	०	१	८०	२	०
१४. अयोगिकेवली	४	८५।१३।१२	०	८५।१३।१२	०	=	२।१	०	१	८०।९	२।१	०

‡ तद्भव मोक्षगामी अनन्तानुबन्धी विसंयोजक उपशमश्रेणी को करने वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को १४१ की सत्ता मानी जाती है।

* तद्भव मोक्ष नहीं जाने वाले उपशमश्रेणी वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि की मानी जाती है। नौवें गुणस्थान में नौ भागों में मोहनीय के २८-२४-२१ अंक सहित समझना चाहिए।

गुणस्थान-बंधादि दिग्दर्शक यंत्र

आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता किस-किस गुणस्थान तक होती है

क्रम	उत्तर प्रकृतियों की संख्या का क्रम	मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम	किस गुणस्थान तक बंध	किस गुणस्थान तक उदय	किस गुणस्थान तक उदीरणा	किस गुणस्थान तक सत्ता
१	२	३	४	५	६	७
		ज्ञानावरण—५				
१	१	मतिज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
२	२	श्रुतज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
३	३	अवधिज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
४	४	मनःपर्ययज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
५	५	केवलज्ञानावरण	१०	१२	१२	१२
		दर्शनावरण—९				
६	१	चक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
७	२	अचक्षुदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
८	३	अवधिदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
९	४	केवलदर्शनावरण	१०	१२	१२	१२
१०	५	निद्रा	१०	एक समय न्यून-१२	आवलिका समयाधिक न्यून-१२	एक समय न्यून-१२

१	२	३	४	५	६	७
११	६	निद्रानिद्रा	२	६	६	८ $\frac{३}{७}$
१२	७	प्रचला	$\frac{६}{६}$	१२. स. समय न्यून दिन	१२. समयाधिक आवलिका न्यून	समय न्यून
१३	८	प्रचला-प्रचला	२	६	६	$\frac{३}{७}$
१४	९	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	$\frac{३}{७}$
		वेदनीय—२				
१५	१	सातावेदनीय	१३	१४	६	१४
१६	२	असातावेदनीय	६	१४	६	१४
		मोहनीय—२८				
१७	१	सम्यक्त्वमोहनीय	बंध नहीं होता है	४ से ७ तीसरे गु.	४ से ७ तीसरे गु.	११—७
१८	२	मिश्रमोहनीय				११—७
१९	३	मिथ्यात्वमोहनीय	१	१	१	११—७
२०	४	अनन्तानुबन्धीक्रोध	२	२	२	११—७
२१	५	अनन्तानुबन्धीमान	२	२	२	११—७
२२	६	अनन्तानुबन्धीमाया	२	२	२	११—७
२३	७	अनन्तानुबन्धीलोभ	२	२	२	११—७
२४	८	अप्रत्या० क्रोध	४	४	४	११—$\frac{६}{६}$
२५	९	,, मान	४	४	४	,,
२६	१०	,, माया	४	४	४	,,
२७	११	,, लोभ	४	४	४	,,
२८	१२	प्रत्या० क्रोध	५	५	५	,,

१	२	३	४	५	६	७
२९	१३	प्रत्या० मान	५	५	५	११-९/२
३०	१४	,, माया	५	५	५	,,
३१	१५	,, लोभ	५	५	५	,,
३२	१६	संज्वलन क्रोध	९/२	९	९	११—९/७
३३	१७	,, मान	९/३	९	९	११—९/८
३४	१८	,, माया	९/४	९	९	११—९/९
३५	१९	,, लोभ	९	१०	१०	११-१०
३६	२०	हास्य नोकषाय	८/७	८	८	११—९/५
३७	२१	रति ,,	८/७	८	८	११-९/५
३८	२२	अरति ,,	६	८	८	११-९/५
३९	२३	शोक ,,	६	८	८	११-९/५
४०	२४	भय ,,	८/७	८	८	११-९/५
४१	२५	जुगुप्सा ,,	८/७	८	८	११-९/५
४२	२६	पुरुषवेद ,,	९/१	९	९	११-९/६
४३	२७	स्त्रीवेद ,,	२	९	९	११-९/४
४४	२८	नपुंसकवेद ,,	१	९	९	११-९/३
		आयु कर्म—४				
४५	१	देवायु	१ से ७*	४	४	११-७
४६	२	मनुष्यायु	४	१४	६	१४
४७	३	तिर्यंचायु	२	५	५	७
४८	४	नरकायु	१	४	४	७

* तीसरे गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध नहीं होता है, इसलिए तीसरे गुण-स्थान के सिवाय ।

नाम कर्म ९३–१०३

१	२	३	४	५	६	७
४९	१	मनुष्यगति	४	१४	१३	१४
५०	२	तिर्यंचगति	२	५	५	११$\frac{६}{९}$
५१	३	देवगति	८।६	४	४	१४
५२	४	नरकगति	१	४	४	११$\frac{६}{९}$
५३	५	एकेन्द्रियजाति*	१	२	२	११$\frac{६}{९}$
५४	६	द्वीन्द्रियजाति	१	२	२	११$\frac{६}{९}$
५५	७	त्रीन्द्रियजाति	१	२	२	११$\frac{६}{९}$
५६	८	चतुरिन्द्रियजाति	१	२	२	११$\frac{६}{९}$
५७	९	पंचेन्द्रियजाति	८।६	१४	१३	१४
५८	१०	औदारिकशरीर	४	१३	१३	१४
५९	११	वैक्रियशरीर	८।६	४	४	१४
६०	१२	आहारकशरीर	८।६	छठवां	छठवां	१४
६१	१३	तैजसशरीर	८।६	१३	१३	१४
६२	१४	कार्मणशरीर	८।६	१३	१३	१४
६३	१५	औदारिकअंगोपांग	४	१३	१३	१४
६४	१६	वैक्रिय ,,	८।६	४	४	१४
६५	१७	आहारक ,,	८।६	छठवां	छठवां	१४
६६	१८	औदारिकबंधन इन				१४
६७	१९	वैक्रिय ,, सब				१४

* एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय को मात्र पहला और दूसरा गुणस्थान— ये दो ही गुणस्थान होते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१	२	३	४	५	६	७
६८	२०	आहारक ,,	है तुल्य शरीर स्व बन्ध का	स्व शरीर तुल्य	स्व शरीर तुल्य	१४
६९	२१	तैजस ,,				१४
७०	२२	कार्मण बन्धन				१४
७१	२३	औदारिक संघातन नाम				१४
७२	२४	वैक्रिय ,,				१४
७३	२५	आहारक ,,		छठवां	छठवां	१४
७४	२६	तैजस ,,				१४
७५	२७	कार्मणसंघातन				१४
७६	२८	वज्रऋषभनाराच सं०	४	१३	१३	१४
७७	२९	ऋषभनाराच सं०	२	११	११	१४
७८	३०	नाराचसंहनन	२	११	११	१४
७९	३१	अर्धनाराचसंहनन	२	७	७	१४
८०	३२	कीलिका	२	७	७	१४
८१	३३	सेवार्त	१	७	७	१४
८२	३४	समचतुरस्र संस्थान	८/६	१३	१३	१४
८३	३५	न्यग्रोध ,,	२	१३	१३	१४
८४	३६	सादि ,,	२	१३	१३	१४
८५	३७	वामन ,,	२	१३	१३	१४
८६	३८	कुब्ज ,,	२	१३	१३	१४
८७	३९	हुण्डक ,,	१	१३	१३	१४
८८	४०	कृष्ण वर्ण नाम	८/६	१३	१३	१४
८९	४१	नील ,,	,,	१३	१३	१४

१	२	३		४	५	६	७
९०	४२	लोहित	वर्ण	८/६	१३	१३	१४
९१	४३	हारिद्र	,,	,,	१३	१३	१४
९२	४४	श्वेत	,,	,,	१३	१३	१४
९३	४५	सुरभि	गन्ध	,,	१३	१३	१४
९४	४६	दुरभि	,,	,,	१३	१३	१४
९५	४७	तिक्त	रस	,,	१३	१३	१४
९६	४८	कटुक	,,	,,	१३	१३	१४
९७	४९	कषाय	,,	,,	१३	१३	१४
९८	५०	आम्ल	,,	,,	१३	१३	१४
९९	५१	मधुर	,,	,,	१३	१३	१४
१००	५२	कर्कश	स्पर्श	,,	१३	१३	१४
१०१	५३	मृदु	,,	,,	१३	१३	१४
१०२	५४	गुरु	,,	,,	१३	१३	१४
१०३	५५	लघु	,,	,,	१३	१३	१४
१०४	५६	शीत	,,	,,	१३	१३	१४
१०५	५७	उष्ण	,,	,,	१३	१३	१४
१०६	५८	स्निग्ध	,,	,,	१३	१३	१४
१०७	५९	रूक्ष	,,	,,	१३	१३	१४
१०८	६०	नरकानुपूर्वी		१	१-४	१-४	६।१
१०९	६१	तिर्यंचानुपूर्वी		२	१-२-४	१-२-४	६।१
११०	६२	मनुष्यानुपूर्वी		४	१-२-४	१-२-४	१४
१११	६३	देवानुपूर्वी		८।६	१-२-४	१-२-४	१४
११२	६४	शुभविहायोगति		८।६	१३	१३	१४

१	२	३		४	५	६	७
११३	६५	अशुभविहायोगति		२	१३	१३	१४
११४	६६	पराघातनामकर्म		८।६	१३	१३	१४
११५	६७	उच्छ्वास	,,	८।६	१३	१३	१४
११६	६८	आतप	,,	१	१	१	९।१
११७	६९	उद्योत	,,	२	५	५	९।१
११८	७०	अगुरुलघु	,,	८।६	१३	१३	१४
११९	७१	तीर्थंकर	,,	८।६	१३-१४	१३	१४
१२०	७२	निर्माण	,,	८।६	१३	१३	१४
१२१	७३	उपघात	,,	,,	१३	१३	१४
१२२	७४	त्रस	,,	,,	१४	१३	१४
१२३	७५	बादर	,,	,,	१४	१३	१४
१२४	७६	पर्याप्त	,,	,,	१४	१३	१४
१२५	७७	प्रत्येक	,,	,,	१३	१३	१४
१२६	७८	स्थिर	,,	,,	१३	१३	१४
१२७	७९	शुभ	,,	,,	१३	१३	१४
१२८	८०	सुभग	,,	,,	१३	१३	१४
१२९	८१	सुस्वर	,,	,,	१३	१३	१४
१३०	८२	आदेय नामकर्म		,,	१४	१३	१४
१३१	८३	यशःकीर्ति	,,	१०	१४	१३	१४
१३२	८४	स्थावर नामकर्म		१	२	२	९।१
१३३	८५	सूक्ष्म	,,	१	१	१	९।१
१३४	८६	अपर्याप्त	,,	१	१	१	१४
१३५	८७	साधारण	,,	१	१	१	९।१

१	२	३	४	५	६	७
१३६	८८	अस्थिर नामकर्म	६	१३	१३	१४
१३७	८९	अशुभ ,,	६	१३	१३	१४
१३८	९०	दुर्भग ,,	२	४	४	१४
१३९	९१	दुःस्वर ,,	२	१३	१३	१४
१४०	९२	अनादेय ,,	२	४	४	१४
१४१	९३	अयशःकीर्ति नामकर्म	६	४	४	१४
		गोत्रकर्म २				
१४२	१	उच्चगोत्र	१०	१४	१३	१४
१४३	२	नीचगोत्र	२	५	५	१४
		अन्तराय ५				
१४४	१	दानान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४५	२	लाभान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४६	३	भोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४७	४	उपभोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४८	५	वीर्यान्तराय	१०	१२	१२	१२

नोट—(१) इस यंत्र में उपशम और क्षपक इस प्रकार दो श्रेणियों की विवक्षा ली गई है।

(२) नामकर्म की जिन प्रकृतियों की सत्ता चौदह गुणस्थान तक कही है, उनमें से मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय ७१ प्रकृतियों की सत्ता चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय तक होती है।

उदय अविनाभावी

क्रम	यद् अविनाभावी प्रकृतियों के निमित्त	कुल प्रकृतियाँ	गुण १	२	३
१.	केवलज्ञान	१	०	०	०
२.	मिश्रगुणस्थान	१	०	०	१
३.	क्षयोपशम सम्यक्त्व	१	०	०	०
४.	प्रमत्तसंयत	२	०	०	०
५.	मिथ्यात्व	५	५	०	०
६.	जन्मान्तर	४	४	३	०
७.	अनन्तानुबन्धीय	९	९	९	०
८.	अप्रत्याख्यानीय	१३	१३	१३	१३
९.	प्रत्याख्यानीय	८	८	८	८
१०.	प्रमादभाव संक्लेश	३	३	३	३
११.	यथाप्रवृत्ति-अपूर्वकरण	३	३	३	३
१२.	तथाविध संक्लिष्ट परिणाम	६	६	६	६
१३.	बादरकषाय	६	६	६	६
१४.	अयथाख्यात चारित्र	१	१	१	१
१५.	अक्षपक भाव	२	२	२	२
१६.	छाद्मस्थिकभाव	१६	१६	१६	१६
१७.	बादरकायवाग्योग	२९	२९	२९	२९
१८.	संसारी जीवन	२	२	२	२
१९.	मानव मन	२	२	२	२
२०.	सिद्धत्वस्पर्शी पुण्य	८	८	८	८
	कुल निमित्त	२०	१६	१५	१४
	कुल प्रकृतियाँ	१२२	११७	१११	१००
	कितनी प्रकृतियाँ नहीं होती है	०	५	११	२२

प्रकृतियों का विवरण

४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	कुल गुण-स्थान
०	०	०	०	०	०	०	०	०	१	१	२
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१	१	१	१	०	०	०	०	०	०	०	४
०	०	२	०	०	०	०	०	०	०	०	१
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
४	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	३
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	२
१३	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	४
८	८	०	०	०	०	०	०	०	०	०	५
३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	०	६
३	३	३	३	०	०	०	०	०	०	०	७
६	६	६	६	६	०	०	०	०	०	०	८
६	६	६	६	६	६	०	०	०	०	०	९
१	१	१	१	१	१	१	०	०	०	०	१०
२	२	२	२	२	२	२	२	०	०	०	११
१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	१६	०	०	१२
२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	२९	०	१३
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१४
२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१४
८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	१४
१५	१३	१३	११	९	८	७	६	५	५	४	०
१०४	८७	८१	७६	७२	६६	६०	५९	५७	४२	१२	०
१८	३५	४१	४६	५०	५६	६२	६३	६५	८०	११०	०

कर्म प्रकृतियों का बन्धनिमित्तक विवरण

क्रम	गुणस्थान	योगनिमित्तक	सूक्ष्मसंपराय निमित्तक	अनिवृत्तिबादर कषाय निमित्तक	अपूर्वकरण निवृत्तिसहकृत-बादरकषाय निमित्तक	अप्रमत्तभाव निमित्तक	प्रमत्तभाव निमित्तक	प्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	अप्रत्याख्यानीय कषाय निमित्तक	सम्यक्त्वसहकृत संक्लेश-निमित्तक	अनन्तानुबन्धीय निमित्तक	मिथ्यात्व निमित्तक	कुल प्रकृतियाँ
१.	मिथ्यात्व	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	१६	११७
२.	सास्वादन	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	०	२५	०	१०१
३.	मिश्र	१	१६	५	३३	०	७	४	९	०	०	०	७४
४.	अविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	१०	१	०	०	७७
५.	देशविरति	१	१६	५	३३	०	७	४	०	१	०	०	६७
६.	प्रमत्तसंयत	१	१६	५	३३	०	७	०	०	१	०	०	६३
७.	अप्रमत्तसंयत	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
८.	अपूर्वकरण	१	१६	५	३३	२	०	०	०	१	०	०	५८
९.	अनिवृत्तिबादर	१	१६	५	०	०	०	०	०	०	०	०	२२
१०.	सूक्ष्मसंपराय	१	१६	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१७
११.	उपशांत मोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१२.	क्षीणमोह	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१३.	सयोगिकेवली	१	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	१
१४.	अयोगिकेवली	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०
	कुल गुणस्थान	१३	१०	९	८	२	६	५	४	५	२	१	

गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों का बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता का विवरण

बन्ध प्रकृतियाँ १२०, उदय व उदीरणा प्रकृतियाँ १२२, सत्ता प्रकृतियाँ १४८

ओघ—सामान्यरूप से बिना किसी विशेष गुणस्थान व जीव विशेष की विवक्षा के कथन।

बन्ध-विवरण

ओघ **मूलप्रकृति ८** **उत्तरप्रकृति १२०**

(१) ज्ञानावरण ५, (२) दर्शनावरण ९, (३) वेदनीय २, (४) मोहनीय २६, (५) आयु ४, (६) नाम ६७, [पिंड प्रकृतियाँ ३९, प्रत्येक प्रकृतियाँ ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०=६७] (७) गोत्र २, (८) अन्तराय ५=१२०

१. मिथ्यात्व **मूल ८** **उत्तर० ११७**

तीर्थंकर और आहारकद्विक (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग नामकर्म) का बन्ध नहीं होता।

२. सास्वादन **मूल ८** **उ० १०१**

नरकत्रिक (नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी) जाति-चतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) स्थावरचतुष्क (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नाम) हुंडसंस्थान, सेवार्तसंहनन, आतपनाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय =१६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यात्व गुण-

स्थान के अन्त में हो जाने से शेष १०१ का बंध सम्भव है।

३. मिश्र मूल ७ उ० ७४

तिर्यंचत्रिक (तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, तिर्यंचानुपूर्वी) स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, आदेयनाम) अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मध्यम संस्थानचतुष्क (न्यग्रोधपरिमण्डल, वामन, सादि, कुब्ज) मध्यम संहननचतुष्क (ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका) नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभविहायोगति, स्त्रीवेद=२५ का बन्ध दूसरे गुणस्थान में अन्त होने व मिश्र गुणस्थान में किसी आयु का बन्ध सम्भव न होने से शेष दो आयु (मनुष्यायु, देवायु) को घटा देने से २७ प्रकृतियाँ कम होती हैं।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि मूल ८ उ० ७७

मनुष्यायु, देवायु व तीर्थंकर नाम का बन्ध होने से मिश्र गुणस्थान की ७४ प्रकृतियों में यह तीन जोड़ें=७७। नोट—नरक व देव जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं, वे तो मनुष्यायु का और तिर्यंच व मनुष्य देवायु का बन्ध करते हैं।

५. देशविरत मूल ८ उ० ६७

वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यायु, मनुष्यानुपूर्वी) अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, औदारिकद्विक (औदारिकशरीर,

औदारिकअंगोपांग) कुल १० प्रकृतियों का विच्छेद चतुर्थ गुणस्थान के अन्त समय में होने से शेष ६७ का बन्ध सम्भव है।

६. प्रमत्तविरत मूल ८ उ० ६३

प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का बन्धविच्छेद पाँचवें गुणस्थान के अन्त समय में हो जाने से ६७—४ =६३ प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है।

७. अप्रमत्तविरत मूल ८/७ उ० ५६/५८

छठे गुणस्थान के अन्त में—अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, असातावेदनीय, इन छह प्रकृतियों का बन्धविच्छेद हो जाने से शेष रही ५६। [जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध प्रारम्भ कर उस बन्ध को वहीं समाप्त कर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके ५६ प्रकृतियाँ व जो जीव छठे गुणस्थान में देवायु का बन्ध आरम्भ कर सातवें में समाप्त करता है उसके ५६+१=५७ प्रकृतियों का बन्ध रहता है] तथा सातवें गुणस्थान में आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग का बन्ध सम्भव होने से दो जोड़ने से ५६+२=५८, ५७+२=५९ प्रकृतियों का बन्ध सम्भव है।

८. अपूर्वकरण मूल ७ उ० ५८, ५६, २६

प्रथम भाग में ५८ कर्मप्रकृतियों का बन्ध सम्भव है।

नोट—१. इस गुणस्थान में देवायु के बन्ध का प्रारम्भ व समाप्ति नहीं होती।

२. प्रथम भाग के अन्त में निद्रा, प्रचला का विच्छेद हो जाता है अतः ५८—२=५६

३. दूसरे भाग से छठे भाग तक यही ५६ का बन्ध सम्भव है। छठे भाग के अन्त में सुरद्विक (देवगति, देवगत्यानुपूर्वी) पंचेन्द्रियजाति, शुभविहायोगति, त्रसनवक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय) औदारिकशरीर को छोड़ शेष चार शरीर, औदारिक अंगोपांग को छोड़ शेष दो अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, निर्माण, तीर्थंकर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास) इन ३० प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। सातवें भाग में ये नहीं रहतीं। अतः ५६=३०=२६।

४. आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्त में हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन ४ प्रकृतियों का विच्छेद हो जाने से २६—४=२२ प्रकृतियों का बन्ध नौवें में सम्भव है।

९. अनिवृत्तिबादर मूल ७ उ० २२, २१, २०, १९, १८

इस गुणस्थान के प्रारंभ में २२ प्रकृतियों का बंध।

१. पहले भाग के अन्त में पुरुषवेद का विच्छेद =२१।

२. दूसरे भाग के अन्त में संज्वलन क्रोध का विच्छेद=२०।

३. तीसरे भाग के अन्त में संज्वलन मान का विच्छेद=१९।

४. चौथे भाग में संज्वलन माया का विच्छेद =१८।

५. पाँचवें भाग के अन्त समय में लोभ का बन्ध नहीं होता। अतः दसवें गुणस्थान में शेष १७ प्रकृतियाँ रहेंगी।

१०. सूक्ष्मसंपराय   मूल ६   उ० १७

दसवें गुणस्थान के अन्त समय में—दर्शनावरणीय ४, उच्चगोत्र १, ज्ञानावरणीय ५, अन्तराय ५, यशःकीर्तिनाम १=१६ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है, शेष १ प्रकृति रहती है।

११. उपशान्तमोह   मूल १   उ० १

सातावेदनीय का बन्ध होता है।

[स्थिति इसकी दो समय मात्र की होती है। योग निमित्तक है।]

१२. क्षीणमोह   मूल १   उ० १

सातावेदनीय

[योगनिमित्तक होने से स्थिति दो समय मात्र की है।]

१३. सयोगिकेवली   मूल १   उ० १

बारहवें गुणस्थान की तरह

१४. अयोगिकेवली	मूल ०	उ० ०
	अबन्धक दशा	

उदय-विवरण

ओघ	मूल प्रकृति ८	उत्तरप्रकृति १२२
	ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ६, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५=१२२ (मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता किन्तु उदय होता है अतः मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ गिनी गई हैं।)	
१. मिथ्यात्व	मूल ८	उ० ११७
	मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक और तीर्थंकरनामकर्म का उदय नहीं होने से ५ प्रकृतियाँ न्यून।	
२. सास्वादन	मूल ८	उ० १११
	सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नाम) आतप नाम, मिथ्यात्वमोहनीय, नरकानुपूर्वी=६ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।	
३. मिश्र	मूल ८	उ० १००
	अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रियजाति, विकलेन्द्रियत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,	

चतुरिन्द्रिय) तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी=१२ प्रकृतियों का तो उदय नहीं होता किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय होता है अतः (१११−१२+१)=१०० का उदय सम्भव है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि मूल ८ उ० १०४

सम्यक्त्वमोहनीय व आनुपूर्वीचतुष्क का उदय सम्भव है। किन्तु मिश्रमोहनीय का उदय नहीं होता। अतः १००+५−१=१०४ का उदय सम्भव है।

५. देशविरत मूल ८ उ० ८७

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, वैक्रियाष्टक (देवगति, देवायु, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग) दुर्भगत्रिक (दुर्भगनाम, अनादेयनाम, अयशःकीर्तिनाम)=१७ का उदय सम्भव नहीं होता।

अतः १०४−१७=८७ का उदय सम्भव है।

६. प्रमत्तविरत मूल ८ उ० ८१

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योतनाम, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क=८ का उदय तो सम्भव नहीं किन्तु आहारकद्विक का सम्भव होने से ८७−८+२=८१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

७. अप्रमत्तविरत मूल ८ उ० ७६

स्त्यानर्द्धित्रिक (निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि) व आहारकद्विक का अप्रमत्त अवस्था

	में उदय सम्भव नहीं अतः ८१—५=७६ का उदय सम्भव है।	
	[यद्यपि आहारक शरीर बनाते समय लब्धि का उपयोग करने से छठा गुणस्थान प्रमादवर्ती (उत्सुकता से) होता है, परन्तु फिर उस तद् शरीरी जीव के अध्यवसाय की विशुद्धि से सातवें गुणस्थान में तद् शरीर के होने पर भी प्रमादी नहीं कहा जाता।]	
८. अपूर्वकरण	मूल ८	उ० ७२
	सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त-संहनन इन चार प्रकृतियों का उदयविच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से इस गुणस्थान में इन चार का उदय सम्भव नहीं। अतः ७६—४=७२ प्रकृतियों का उदय सम्भव है।	
९ अनिवृत्तिबादर	मूल ८	उ० ६६
	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा=६ प्रकृतियों का उदय सम्भव नहीं है। क्योंकि इनका उदयविच्छेद आठवें गुणस्थान के अन्त समय में हो जाता है।	
१०. सूक्ष्मसंपराय	मूल ८	उ० ६०
	स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ प्रकृतियों का उदय सम्भव नहीं।	

[इनका उदय तो नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है।]

नोट—यदि श्रेणी का प्रारम्भक पुरुष है तो पहले पुरुषवेद के, फिर स्त्रीवेद के, फिर नपुंसक वेद के उदय को रोकेगा तदनन्तर संज्वलनत्रिक को। यदि स्त्री है तो पहले स्त्रीवेद को, फिर पुरुषवेद, फिर नपुंसकवेद के उदय को और यदि नपुंसक है तो पहले नपुंसकवेद को, फिर स्त्री-वेद को, फिर पुरुषवेद के उदय को रोकेगा।

११. उपशांतमोह मूल ७ उ० ५६

संज्वलन लोभ का उदय नहीं रहता है।

[उसका उदय तो दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में विच्छेद हो जाता है। जिनको ऋषभ-नाराच व नाराच संहनन होता है वे ही उपशम-श्रेणी करते हैं।]

१२. क्षीणमोह मूल ७ उ० ५७

ऋषभनाराच व नाराचसंहनन का उदय सम्भव नहीं। इनका उदय ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। क्षपकश्रेणी वज्रऋषभनाराचसंहनन के बिना नहीं होती, अतः ५६—२=५७

बारहवें गुणस्थान के अन्त समय में निद्रा, प्रचला का भी उदय नहीं रहता अतः ५७—२ =५५

१३ सयोगिकेवली मूल ४ उ० ४२

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, अन्तराय

५=१४ का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही रहता है। अतः ५५—१४=४१ तथा तीर्थंकर नामकर्म का उदय सम्भव है अतः ४१+१=४२ प्रकृतियों का उदय सम्भव है।

१४. अयोगिकेवली मूल ४ उ० १२

औदारिकद्विक (औदारिकशरीर औदारिक-अंगोपांग) अस्थिरद्विक (अस्थिरनाम, अशुभनाम), खगतिद्विक (शुभविहायोगति, अशुभविहायोगति) प्रत्येकत्रिक (प्रत्येकनाम, शुभनाम, स्थिरनाम) संस्थानषट्क (समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन कुब्ज, हुंड) अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नाम) वर्णचतुष्क (वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श) निर्माणनाम, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, वज्रऋषभनाराचसंहनन दुस्वर, सुस्वर, साता या असातावेदनीय में से कोई एक, यह ३० प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही उदय को पा सकती है। अतः इनको घटाने पर शेष ४२—३०=१२ प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। शेष जिन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है, वे यह हैं—

सुभगनाम, आदेयनाम, यशःकीर्तिनाम, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय कर्म, त्रसत्रिक (त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम) पंचेन्द्रिय

जाति, मनुष्यायु, मनुष्यगति तीर्थंकरनाम उच्च-गोत्र=१२

उदीरणा-विवरण

ओघ — मूलप्रकृति ८ — उत्तरप्रकृति १२२

उदययोग्य के अनुसार

१. मिथ्यात्व — मूल ८ — उ० ११७

मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, आहारकद्विक व तीर्थंकरनाम की उदीरणा सम्भव नहीं होने से ५ प्रकृतियाँ न्यून।

२. सास्वादन — मूल ८ — उ० १११

उदय के समान समझना।

३. मिश्र — मूल ८ — उ० १००

उदयवत् १२ प्रकृतियों की उदीरणा तो सम्भव नहीं, व मिश्रमोहनीय की उदीरणा सम्भव है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि — मूल ८ — उ० १०४

मिश्रमोहनीय की उदीरणा सम्भव नहीं। सम्यक्त्वमोहनीय व चार आनुपूर्वी की उदीरणा सम्भव है। अतः १००+५−१=१०४।

५. देशविरत — मूल ८ — उ० ८७

उदयवत् १७ प्रकृतियों की उदीरणा सम्भव है।

६. प्रमत्तविरत — मूल ८ — उ० ८१

उदयवत् सम्भव है।

७.	अप्रमत्तविरत	मूल ६	उ० ७३
		वेदनीयद्विक (साता, असाता) आहारकद्विक, स्त्यानर्द्धित्रिक, मनुष्यायु=८। छठे गुणस्थान के अन्तिम समय में इन आठ प्रकृतियों की उदीरणा रुक जाने से ८१—८=७३ की उदीरणा सम्भव है।	
		नोट—छठे गुणस्थान से आगे ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिससे साता, असाता वेदनीय, मनुष्यायु की उदीरणा हो सके अतः उदय की अपेक्षा ये तीन कर्म प्रकृतियां कम गिनी हैं।	
८.	अपूर्वकरण	मूल ६	उ० ६९
		सम्यक्त्वमोहनीय, अर्धनाराचसंहनन, कीलिकासंहनन, सेवार्तसंहनन इन चार प्रकृतियों की उदीरणा सम्भव नहीं।	
९.	अनिवृत्तिबादर	मूल ६	उ० ६३
		हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा=६ की उदीरणा सम्भव नहीं है।	
१०.	सूक्ष्मसंपराय	मूल ६	उ० ५७
		स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया=६ की उदीरणा सम्भव नहीं है।	
११.	उपशांतमोह	मूल ५	उ० ५६
		संज्वलन लोभ की उदीरणा नहीं होती।	

१२. क्षीणमोह मूल ५ उ० ५४

ऋषभनाराच व नाराच संहनन, क्षपकश्रेणी आरूढ़ के नहीं होते।
५६—२=५४
अन्त समय के आगे निद्रा, प्रचला की उदीरणा सम्भव नहीं। अतः ५४—२=५२

१३. सयोगिकेवली मूल २ उ० ३९

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, अन्तराय ५= १४ प्रकृतियाँ इस गुणस्थान में न रहने से उदीरणा सम्भव नहीं, तथा तीर्थंकरनाम जोड़ देने से ५२—१४+१=३९ प्रकृतियों की उदीरणा सम्भव है।

१४. अयोगिकेवली

किसी कर्म की उदीरणा नहीं होती है।

सत्ता-विवरण

ओघ मूल प्रकृति ८ उत्तर प्रकृति १४८

ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ९, वेदनीय २, मोहनीय २८, आयु ४, नाम ९३, (पिंड प्र० ६५, प्रत्येक ८, त्रसदशक १०, स्थावरदशक १०= ९३) गोत्र २, अन्तराय ५।

१. मिथ्यात्व मूल ८ उ० १४८

जिस जीव ने पहले नरकायु का बन्ध कर लिया हो, व फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पाकर उसके

बल से जिननामकर्म बांध लिया हो वह जीव नरक में जाते समय सम्यक्त्व को त्यागकर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है, परन्तु तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता तो इस गुणस्थान में है, अतः इस गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता है।

(योग्यता की अपेक्षा से)

२. सास्वादन मूल ८ उ० १४७

कोई भी जीव तीर्थंकरनामकर्म बांधकर सास्वादन गुणस्थान प्राप्त नहीं करता है अतः दूसरे गुणस्थान में इस जिननामकर्म की सत्ता नहीं होती है।

३. मिश्र मूल ८ उ० १४७

दूसरे गुणस्थान के समान

४. अविरतसम्यग्दृष्टि मूल ८ उ० १४८, १४५, १४१, १४१, १३८

सम्भवसत्ता की अपेक्षा से यद्यपि किसी एक समय में किसी एक जीव को दो आयु से अधिक की सत्ता नहीं होती, परन्तु योग्य सामग्री मिलने पर जो कर्म विद्यमान नहीं हैं, उनका भी बन्ध व सत्ता हो सकती है। अतः योग्यता की अपेक्षा से १४८ (औपशमिक सम्यक्त्वी, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी अचरमशरीरी की अपेक्षा से)

(क) चरमशरीर (क्षपक) चतुर्थ गुणस्थानवर्ती

के तीन आयु की सत्ता न रहने से १४५ प्र०

(ख) क्षायिक सम्यक्त्वी, अचरमशरीरी के अनन्तानुबन्धी चतुष्क व दर्शनत्रिक की सत्ता नहीं रहती अतः १४८–७=१४१ प्र०।

(ग) उपशमश्रेणी (विसंयोजना–जो कर्म प्रकृतियाँ वर्तमान में तो किसी दूसरी प्रकृतियों में संक्रमित कर दी गयी हों, वर्तमान में तो उनकी सत्ता नहीं है, परन्तु फिर से उनकी सत्ता सम्भव हो) की अपेक्षा से १४८। अनन्तानुबन्धीचतुष्क व दर्शनत्रिक के न्यून होने पर १४१

(घ) चरमशरीरी की अपेक्षा से (क्षायिक-सम्यक्त्वी) अनन्तानुबन्धी ४, दर्शनत्रिक ३, आयु ३ के कम करने पर १३८ प्र० की।

५. देशविरत मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश

सम्भव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८

क वत् १४५

ख वत् १४१

ग वत् १४१

घ वत् १३८

६. प्रमत्तविरत मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश

सम्भव सत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८

क वत् १४५
ख वत् १४१
ग वत् १४१
घ वत् १३८

७. अप्रमत्तविरत मूल ८ उ० चौथे गुणस्थान के सदृश

सम्भव सत्ता की अपेक्षा १४८

क वत् १४५
ख वत् १४१
ग वत् १४१
घ वत् १३८

८. अपूर्वकरण मूल ८ उ० १४८, १४२, १३९, १३८

सम्भवसत्ता की अपेक्षा से (योग्यता से) १४८। अनन्तानुबन्धी व नरकायु, तिर्यंचायु वाला उपशम श्रेणी नहीं कर सकता, इस अपेक्षा से १४२। अनन्तानुबन्धीचतुष्क, दर्शनत्रिक (विसंयोजना) नरक व तिर्यंचायु इन ९ प्रकृतियों को कम करने से १३९।

(पंच संग्रह में कहा है कि अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना बिना जीव उपशमश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता। सर्वमत है कि नरक व तिर्यंच आयुकर्म की सत्ता वाला ही उपशमश्रेणी नहीं चढ़ सकता।)

घ वत् १३८

६. अनिवृत्तिकरण	मूल ८	उ० १४८; अंतिम १०३

सम्भवसत्ता की अपेक्षा १४८

उपशमश्रेणी में अनन्तानुबन्धीचतुष्क और नरक तिर्यंचायु की सत्ता न रहने पर १४८—६= १४२। उपशमश्रेणी में अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनत्रिक की विसंयोजना व नरक तिर्यंचायु का अभाव होने से १४८—७—२=१३९।

क्षपकश्रेणी में

भाग १ में—अनन्तानुबन्धी ४, दर्शनत्रिक, आयु तीन की सत्ता न रहने से। १४८—१०=१३८

भाग २ में—स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक आतप, उद्योत, स्त्यानर्द्धित्रिक, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, साधारण नामकर्म की सत्ता नहीं रहती १३८—१६=१२२

भाग ३ में—दूसरे भाग के अन्त में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क की सत्ता क्षय हो जाती है। १२२—८=११४

भाग ४ में—तीसरे भाग के अन्त में नपुंसकवेद का क्षय हो जाने से। ११४—१=११३

भाग ५ में—चौथे भाग के अन्त में स्त्रीवेद का

क्षय हो जाने से। ११३—१=११२

भाग ६ में—पाँचवें भाग के अन्त में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का क्षय होने से। ११२—६=१०६

भाग ७ में—छठे भाग के अन्तसमय में पुरुषवेद का क्षय होने से १०६—१=१०५

भाग ८ में—सातवें भाग के अन्त में संज्वलन क्रोध का क्षय होने से १०५—१= १०४

भाग ९ में—आठवें भाग के अन्त में संज्वलन मान का क्षय होने से १०४—१= १०३।

नौवे भाग के अन्त में संज्वलन माया का क्षय होने से १०२ प्रकृतियाँ जो १०वें की सत्ता है।

१०. सूक्ष्मसंपराय मूल ८ **उ० १४८; अंतिम १०२**

सम्भवसत्ता की अपेक्षा से १४८

उपशमश्रेणी में अनन्तानुबन्धीचतुष्क व नरक तिर्यंचायु को कम करने से (विसंयोजना से) १४८—६=१४२ **उपशमश्रेणी में** (नौवें गुणस्थानवत्) १३६।

क्षपकश्रेणी में

१०२; दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का क्षय होने से शेष रही १०१

प्रकृतियाँ जो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हैं।

११. उपशान्तमोह मूल ८ उ० १४८, १४२, १३८

सम्भवसत्ता की अपेक्षा १४८

उपशमश्रेणी में अनन्तानुबन्धीचतुष्क व नरकायु, तिर्यंचायु घटाने से १४८—६=१४२

उपशमश्रेणी में १३८

(इस गुणस्थान में क्षपकश्रेणी नहीं होती है।)

१२. क्षीणमोह मूल ७ उ० १०१

द्विचरम समय में निद्रा व प्रचला का क्षय होने से १०१—२=९९

अन्तिम समय में ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५ का क्षय होने से ९९—१४=८५, जो तेरहवें गुणस्थान की सत्ता प्रकृतियाँ हैं।

(इस गुणस्थान में उपशमश्रेणी नहीं होती।)

१३. सयोगिकेवली मूल ४ उ० ८५

८५ प्रकृतियाँ, चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में क्षय होने वाली ७२ प्रकृतियाँ एवं अन्त समय में क्षय होने वाली १२ प्रकृतियाँ तथा सातावेदनीय या असातावेदनीय में से कोई एक।

१४. अयोगिकेवली मूल ४ उ० १२।१३

चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय पर्यन्त जो ८५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है उसमें से द्विचरम समय में—

देवद्विक, खगतिद्विक, शरीरनाम ५, बन्धननाम ५, संघातन ५, निर्माण, संहनन ६, अस्थिरषट्क, संस्थान ६, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्तनाम, साता या असातावेदनीय, प्रत्येकत्रिक, अंगोपांग ३, सुस्वरनाम, नीच गोत्र=७२, प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है।

चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में—मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यशःकीर्तिनाम, आदेयनाम, सुभग, तीर्थंकरनाम, उच्चगोत्र, पंचेन्द्रियजाति, साता या असातावेदनीय में से कोई एक इन १३, प्रकृतियों का अभाव हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाती है।

□